प्रकाशकीय

इस 'युगवीर-भारती' के निर्माता साहित्य-तपस्वी श्री प० जुगल-किशोरजी मुख्तार सरसावा-निवासीके विषयमें मुझे कुछ भी कहने-की ज़रूरत नही है। उनके गद्य-पद्य लेखोंने समाजमें बहुत बड़ी जागृति तथा क्रान्ति उत्पन्न की है और वे बहुतोंके लिए प्रेरणा-प्रद बने हैं। विद्वद्वर्ग उनसे प्रभावित और उनके महत्वको हृदयगम किये हुए है—बच्चे भी 'मेरी भावना', 'महावीर-सन्देश' तथा 'होली है' जैसी रचनाओंके कारण उनके नाम तथा काम-से थोड़ा बहुत परिचित हैं। यहाँ पर मै सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि मुख्तार साहब अपने इस बहुमूल्य संग्रहको स्वसस्थापित वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित करना चाहते थे और प्रकाशनके लिए उन्होंने उसे प्रेसमें भी दे दिया था; परन्तु बादको मेरे अनुरोध पर उन्होंने बड़ी उदारताके साथ मुझे 'अहिसा-मन्दिर' से उसके प्रथम प्रकाशनका अवसर प्रदान किया है, जिससे मुझे अपार हर्ष हुआ और इस कृपाके लिए मै उनका बहुत आभारी हूँ।

इस संग्रहकी पुरानीसे पुरानी कविताका भी आज कोई मूल्य कम नहीं हुआ, वे बराबर चरित्र-निर्माण और समाज-देशोत्थानके कार्यमें प्रेरणादायक एवं सहायक बनी हुई हैं और इसलिए सर्वत्र प्रचार किये जानेके योग्य हैं।

सग्रहके इस प्रथम संस्करणकी दो खास विशेषतएँ हैं—एक तो यह कि इसमे कविताओंका सशोधन स्वयं उनके रचयिता-द्वारा अप-टु-डेट हो गया है, दूसरी यह कि संस्कृत कविताओंके साथ उनका हिन्दी अनुवाद भी स्वय मुख्तारजी के द्वारा हालमे निर्मित होकर लगा दिया गया है, इससे हिन्दी पाठकोंको भी उनके अर्थकी ठीक जानकारी और यथार्थ भाव-भासना सहज ही हो सकेगी।

मेरा विचार अब मुख्तार महोदयके गद्य लेखोंका एक बड़ा संग्रह 'युगवीर-निबन्धावली' के नामसे प्रकाशित करनेका है, जिसमें साहित्य तथा इतिहास-विषयके निबन्धोंको छोड़ कर दूसरे १ मौलिक, २ उत्तरात्मक, ३ समालोचनात्मक और पत्रात्मक निबन्ध रहेंगे। साहित्य और इतिहास-विषयके लेखोंका एक ७४८ पृष्ठका संग्रह 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामसे वीर-शासन-सघ कलकत्ताने जुलाई १९५६ मे, प्रथम खंडके रूपमे, प्रकाशित किया था। दूसरा खड उसका अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया। मै चाहता हूँ कि मुख्तार साहबके शेष सभी महत्वपूर्ण लेख उनके जीवन-कालमें ही उन्हींके द्वारा सशोधित होकर दो एक बडे सग्रहोंमे प्रकाशित हो जाएँ, जिससे विज्ञ तथा इतर जनता उनसे वचित न रहे और सभी को यथेष्ट लाभ उठाने का अवसर मिल सके।

१, दरियागंज, दिल्ली —राजकृष्ण जैन
२४-२-१९६०

प्रास्ताविक

मैं कवि नही हूँ और न काव्य-शास्त्रका मैंने कोई व्यवस्थित अध्ययन ही किया है, फिर भी विद्यार्थि-जीवनसे पद्य-रचनाकी ओर थोडी-सी रुचि वनी रहनेके कारण मेरे द्वारा दैवयोगसे कुछ ऐसी कविताओका भी निर्माण वन पडा है जिन्होने लोक-रुचिको अपनी ओर आकर्षित किया है और उसके फलस्वरूप ही अनेक कविताएँ जो प्रथमत 'जैनहितैषी' आदि पत्रोमे प्रकाशित हुई वे वादको अन्य पत्रो, पुस्तको एव विविध ग्रन्थसग्रहोमे भी उदघृत की गई है, कोई-कोई पृथक पुस्तिका, ट्रैक्ट, चार्ट, कार्ड अथवा कैलेंडर आदिके रूपोमे छपाई गई और कितनी ही तीर्थक्षेत्रादिके मन्दिरो तथा अन्य मन्दिर-मकानोकी दीवारो, खिडकियोके काँचो और पर्दों आदि पर भी अकित की गई है। 'मेरी भावना' ने तो प्राय इन सभी रूपोको धारण किया हे, और इससे उसके पचासो सस्करण लाखोकी सख्यामे हो गये हे। वह जमनी आदि-मे फोनोग्राफके रिकार्डोमे भरी गई और रेडियो-द्वारा भी अनेक वार उच्चरित एव प्रसारित हुई हे। हजारोकी सख्यामे देशी-विदेशी जनता उसका नित्य पाठ करती है। अनेक स्कूलो, विद्यालयो, पाठशालाओ और सभा-सोसाइटियो अथवा सम्मेलनोमे वह प्रारम्भिक प्रार्थनादिके रूपमे वोली जाती हे और कुछ मिलोके मजदूर भी उसे काम प्रारम्भ करनेसे पहले मिल कर वोलते है। अग्रेजी, उर्दू, गुजराती, मराठी, कनडी और सस्कृत आदि अनेक भाषाओमे उसके अनुवाद हो चुके हे और वह अनेक लिपियोमे भी मुद्रित की जा चुकी है। इससे उसकी तथा उस जैसी अन्य अनेक कविताओकी, जिनमे कुछ सचित्र भी प्रकाशित हो चुकी है, लोकप्रियताको वतलानेकी जरूरत नही रहती।

आराके श्री कुमार देवेन्द्रप्रसादजीने सबसे पहले सन् १९२० ई० मे मेरी कविताओका एक सग्रह 'वीरपुष्पाञ्जलि' के नामसे प्रकाशित किया था, जिसमे कुल १३ कविताएँ सग्रहीत थी। वह सग्रह वहुत वर्षोंसे अप्राप्य है। उसके वाद कितनी ही नई कविताएँ प्रादूर्भूत हुई, जो इधर-उधर विखरी रही। इससे कुछ सज्जनोकी यह इच्छा तथा प्रेरणा चल रही थी कि चुनी हुई कविताओका एक अच्छा सग्रह प्रकाशित किया

जाय। तदनुसार ही चरित्र-निर्माण तथा समाज-देशोत्थानसे सम्बन्ध रखनेवाली कविताओंका यह संग्रह 'युगवीर-भारती' के नामसे प्रस्तुत करके उसे विषयकी दृष्टिसे छह खण्डोंमें विभाजित किया गया है। पूर्व-रचित एवं प्रकाशित कविताओंमें जहाँ कहीं कुछ संशोधन तथा परिवर्तनादिकी आवश्यकता समझी गई उसे इस संग्रहमें यथास्थान कर दिया गया है, और इससे प्रस्तुत संग्रहकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

इस संग्रहमें सबसे पुरानी सं॰ १९०१ की रचना 'अनित्य-भावना' है, जिसके मूल-सहित तीन संस्करण कई हजारकी संख्यामें इससे पहले प्रकाशमें आ चुके हैं। किसी ग्रन्थके पद्यानुवाद-रूपमें यह मेरी पहली ही कृति है। श्री पद्मनन्दी आचार्यके जिस 'अनित्यपञ्चाशत्' ग्रन्थका यह मूलानुगामी अनुवाद है उसने शुरूसे ही मेरे जीवनकी धाराको बदला है और मुझे विषय-वासनाके चक्करमें, हर्ष-विषादकी दलदल-में और मोह-शोक तथा लोभके फन्देमें अधिक फँसने नहीं दिया। और यही वजह है कि विषय-वासनाको पुष्ट करनेवाली कोई भी कविता आज तक मेरी लेखनीसे प्रसूत नहीं हुई। मेरी कविताओंका लक्ष्य मुख्यतः स्वात्मसुख और लोक-सेवा रहा है।

इन कविताओंके निर्माण-कार्यमें जिस किसीकी भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें कहीं कोई सहायता मुझे प्राप्त हुई है उस सबके लिये मैं उनका आभारी हूँ। साथ ही, जिन्होंने जिस रूपमें जिस कृतिका आदर तथा सम्मान किया है उसके लिए उनका भी आभारी हूँ।

अन्तमें मैं श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी मेम्बर पार्लियामेंट और श्री यशपालजी जैन सम्पादक 'जीवन-साहित्य' का आभार प्रकट किए बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने बहुत कुछ कार्य-व्यस्त रहते हुए भी 'प्राक्कथन' और 'भूमिका' के रूपमें इस संग्रह-ग्रन्थ पर अपने-अपने विचार व्यक्त करनेकी कृपा की है।

जुगलकिशोर मुख्तार

वीरसेवामन्दिर,
२१ दरियागंज, दिल्ली
फाल्गुन कृ॰ ३ सं॰ २०१६

प्राक्कथन

श्रद्धेय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारके काव्य-सग्रह 'युगवीर-भारती' को पढ़ने का सौभाग्य मुझे अभी अभी प्राप्त हुआ। यद्यपि मै अपने को काव्य-मर्मज्ञ नहीं मानता तथापि एक साधारण पाठक के नाते इतना तो कह ही सकता हूँ कि इन कविताओं में उनके सुसस्कृत हृदय की उदार भावनाएँ पूरी मात्रा मे विद्यमान हैं। उनकी सुप्रसिद्ध रचना—'मेरी भावना'—मार्च सन् १६१६ में छपी थी और तब से अब तक उसकी सहस्रों ही प्रतियाँ बिक चुकी और बँट चुकी हैं। मेरा ख्याल है कि यदि मुख्तार जी की अन्य सभी रचनाएँ भी उसी दर्जे की होतीं तब तो यह ग्रन्थ निस्सन्देह काव्य-दृष्टि से भी उच्च कोटि का बन गया होता, पर बडे से बड़े कवियों की भी सभी रचनाएँ सर्वोच्च धरातल तक नहीं पहुँच पातीं।

श्री मुख्तार साहब की कई अन्य रचनाएँ भी अच्छी बन पडी है—यथा 'मदीया द्रव्यपूजा', 'जैन आदर्श', 'अज-सम्बोधन', 'विधवा-सम्बोधन' इत्यादि।

अज सम्बोधन में उन्होंने बकरे से कहा है—

'आह' भरो उस दम यह कह कर—'हो कोई अवतार नया,
महावीरके सदृश जगतमे, फैलावे सर्वत्र दया'॥

इसे पढ़कर हमे महात्मा गाँधी जी के उस पत्र की याद आ गई जिसमें उन्होंने दीनबन्धु ऐण्ड्रूज को लिखा था कि कलकत्तेमे

काली माई के मन्दिर मे बकरों की बलि से उन्हें कितनी हार्दिक वेदना होती थी। पूज्य बापू ने लिखा था 'इन बकरों का उद्धार करने के लिये कोई न कोई व्यक्ति अवतार लेगा'। स्वय वे इसी लिये पुनः जन्म लेने की हार्दिक इच्छा रखते थे।

यदि किसी काव्य-मर्मज्ञ को यह संग्रह छपने से पूर्व दिखला लिया जाता तो शायद वह इन कविताओं में कुछ इसलाह दे सकता। कई पद्य छोड़े जा सकते थे—यथा 'पठन क्योंकर हो?' 'ईश्वर और ससार' इत्यादि।

श्री मुख्तार जी जैसे वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध व्यक्ति को उपदेश देने का अधिकार मुझे नहीं है तथापि अत्यन्त विनम्रतापूर्वक मैं निवेदन करूँगा कि अपनी सभी रचनाओं को छपाने मे वे प्रवृत्त न होवें, जो सर्वोत्तम हों केवल उन्हीं को छपावें।

उनके विषय मे मैंने श्री कन्हैयालाल जी मिश्र प्रभाकर का एक सुन्दर लेख पढ़ा था और उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ था। ८३ वर्ष की उम्र मे वे जितना काम कर ले जाते हैं उतना अनेक युवक भी नहीं कर सकते। उनके निकट सम्पर्क मे आने की हमारी आकांक्षा कभी न कभी पूरी होगी। इस समय हमे इतना ही कहना है कि मुख्तार जी की जीवन-चर्या ही स्वय उनकी सर्वोत्तम कृति है और युगवीर-भारती मे उसका सच्चा प्रतिबिम्ब हमे दीख पड़ता है।

बनारसीदास चतुर्वेदी
(एम० पी०)

९९, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
११-२-१९६०

भूमिका

आज हिन्दी मे बड़ी तेजी से साहित्य का निर्माण हो रहा है. विभिन्न विषयों पर इतना साहित्य रचा जा रहा है कि उसे देख कर बुद्धि चकरा जाती है. लेकिन खेद है कि साहित्य के इस विपुल भण्डार मे ऐसी कृतियाँ इनी गिनी ही मिलेंगी, जो सही दिशा में जीवन के विकास की, चरित्र के उत्थान की और समाज के अभ्युदय की प्रेरणा देती हों. अधिकांश पुस्तकें तो अर्थ-लाभ के विचार से निकाली जाती हैं.

'युगवीर-भारती' का प्रकाशन इस दृष्टि से अपवाद-स्वरूप है. उसकी कविताओं के रचयिता आचार्य जुगल किशोर मुख्तार जैन-समाज के उन माने हुए व्यक्तियों में से है, जिनकी साधनासे बहुतों ने प्रेरणा प्राप्त की है और जिन्होंने समाज और साहित्य की सराहनीय सेवा की है.

अपने इस नवीन पद्य-संग्रह में उन्होंने अपनी उन रचनाओं का संकलन किया है, जो उन्होंने सन् १९०१ से लेकर १९५६ के बीच प्रस्तुत की थीं : ये रचनाएँ ६ खण्डों में विभक्त की गई है. पहला खण्ड है उपासना-खण्ड; दूसरा, भावना-खण्ड; तीसरा, सम्बोधन-खण्ड; चौथा, सत्प्रेरणा-खण्ड; पाँचवां, संस्कृत-

वाग्विलास-खण्ड और छठा, प्रकीर्ण-पुष्पोद्यान-खण्ड; इन सभी खण्डों के पद्यों मे पाठकों को ऐसी अनेक रचनाएँ मिलेंगी, जिन्हें एक बार नहीं, कई बार पढ़ने की इच्छा होगी. इनमें कतिपय प्रार्थनाएँ ऐसी है, जो दैनिक स्वाध्याय के रूप में उपयोग में लाई जा सक्ती है 'मेरी भावना' से तो जैन-समाज ही नहीं, बहुत से जेनेतर पाठक भी परिचित हैं. और भी कई रचनाएँ सुपाठ्य और मननीय है.

पुस्तक की अधिकांश रचनाएँ जैन मान्यताओं को लक्ष्य मे रख कर तैयार की गई है, लेकिन उनकी विशेषता यह है कि वे किसी समाज-विशेष के लिए ही नही, बल्कि सबके लिए उपयोगी हैं. जो भी कोई उन्हें पढ़ेगा, उसी को लाभ होगा।

मै इस प्रकाशन का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ और आशा करता हूँ कि इसको सर्वत्र स्वागत और मान मिलेगा।

७/८, दरियागज, दिल्ली
१४ फरवरी १९६०

—यशपाल जैन

विषय-सूची

युगवीर-भारती

: १ :

उपासना-खण्ड

१. वीर-वन्दना

२. वीर-वाणी

३. परम उपास्य कौन ?

४. सिद्धि-सोपान

५. मेरी द्रव्यपूजा

६. बाहुबलिजिन-अभिनन्दन

७. महावीरजिन-अभिनन्दन

वीर-वन्दना

१

शुद्धि-शक्तिकी पराकाष्ठाको अतुलित-प्रशान्तिके साथ।
पा, सत्तीर्थ प्रवृत्त किया जिन, नमूँ वीरप्रभु साञ्जलि-माथ॥

२

जीते भय उपसर्ग-परीषह जीते, जिनने मनको मार,
जीतीं पंचेन्द्रियाँ जिन्होंने औ' क्रोधादि कषायें चार।
राग-द्वेष-कामादिक जीते, मोह-शत्रुके सब हथियार,
सुख-दुख जीते, उन वीरोंको नमन करूँ मैं बारंबार॥

वीर-वाणी

अखिल-जग-तारनको जल-यान।

प्रकटी, वीर, तुम्हारी वाणी, जगमें सुधा-समान॥ अखिल०

अनेकान्तमय, स्यात्पद-लांछित, नीति-न्यायकी खान।

सब कुवादका मूल नाश कर, फैलाती सत्‌ज्ञान॥ अखिल०

नित्य-अनित्य-अनेक-एक-इत्यादि कुवादि महान।

नतमस्तक हो जाते सम्मुख, छोड़ सकल अभिमान॥ अखिल०

जीव-अजीव-तत्त्व निर्णय कर, करती संशय-हान।

साम्यभाव-रस चखते हैं, जो करते इसका पान॥ अखिल०

ऊँच-नीच औ' लघु-सुदीर्घ का, भेद न कर भगवान।

सबके हितकी चिन्ता करती, सबपर दृष्टि समान॥ अखिल०

अन्धी श्रद्धाका विरोध कर, हरती सब अज्ञान।

युक्ति-वादका पाठ पढ़ाकर, कर देती सज्ञान॥ अखिल०

ईश न जग-कर्ता, फल-दाता, स्वयं सृष्टि-निर्माण।

निज-उत्थान-पतन निज-करमें, करती यों सुविधान॥

हृदय बनाती उच्च, सिखाकर, धर्म सुदया-प्रधान।

जो नित समझ आदरें इसको, वे 'युग-वीर' महान॥

अखिल-जग-तारनको जल-यान।

परम उपास्य कौन ?

वे हैं परम उपास्य, मोह जिन जीत लिया।
काम-क्रोध-मद-लोभ पछाड़े, सुभट महा बलवान।
माया-कुटिल नीति-नागनि हन, किया आत्मसंत्राण ।।मोह०
ज्ञान-ज्योतिसे मिथ्यातमका, जिनके हुआ विलोप।
राग-द्वेषका मिटा उपद्रव, रहा न भय औ' शोक ।।मोह०
इन्द्रिय-विषय-लालसा जिनकी रही न कुछ अवशेष।
तृष्णा-नदी सुखा दी सारी, धर असंग-व्रत-वेष ।।मोह०
दुख उद्विग्न करें नहिं जिनको, सुख न लुभावें चित्त।
आत्मरूप-सन्तुष्ट गिनें सम निर्धन और सवित्त ।।मोह०
निन्दा-स्तुति सम लखें बने जो निष्प्रमाद निष्पाप।
साम्यभाव-रस-आस्वादनसे मिटा हृदय-सन्ताप ।।मोह०
अहंकार-ममकार-चक्रसे निकले जो धर धीर।
निर्विकार-निर्वैर हुए, पी विश्व-प्रेमका नीर ।।मोह०
साध आत्म-हित जिन वीरोंने किया विश्व-कल्याण।
'युग-मुमुक्षु' उनको नित ध्यावे, छोड़ सकल अभिमान ।।
मोह जिन जीत लिया, वे हैं परम उपास्य ।।

सिद्धि-सोपान

(सिद्धभक्ति-विकास)

१

जिन वीरोंने कर्म-प्रकृतियोंका सब मूलोच्छेद किया,
पूर्ण-तपश्चर्याके बलपर स्वात्मभावको साध लिया।
उन सिद्धोंको सिद्धि-अर्थ मैं वन्दूँ, अति सन्तुष्ट हुआ–
उनके अनुपम गुणाकर्षसे भक्ति-भावको प्राप्त हुआ॥

२

स्वात्मभावकी लब्धि 'सिद्धि' है, होती वह उन दोषोंके[1]
उच्छेदनसे, आच्छादक जो ज्ञानादिक-गुण-वृन्दोंके।
योग्य साधनोंकी [2]सुयुक्तिसे; अग्निप्रयोगादिक-द्वारा
हेम-शिलासे जगमें जैसे हेम किया जाता न्यारा॥

---

१ ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म और रागादिक भावकर्म रूप मलोंके।

२ सम्यक योजनासे।

३

नहिं अभावमय[1] सिद्धि इष्ट है, नहिं निजगुणविनाशवाली;[2]
सत्‌का कभी नाश नहिं होता, रहता गुणी न गुण खाली[3] ।
जिनकी ऐसी[4] सिद्धि न उनका तप-विधान कुछ बनता है;
आत्मनाश-निजगुणविनाशका कौन यत्न बुध करता है ?

४

अस्तु; अनादिबद्ध[5] आत्मा है, स्वकृत-कर्म-फलका भोगी
कर्मबन्ध-फलभोग-नाशसे होता मुक्ति-रमा-योगी ।
ज्ञाता, द्रष्टा, निजतनु-परिमित[6], संकोचेतर-धर्मा[7] है,
स्वगुण-युक्त रहता है, प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मा[8] है ॥

५

इस सिद्धान्त-मान्यताके बिन साध्य-सिद्धि नहिं घटती है—
स्वात्मरूपकी लब्धि न होती, नहिं व्रत-चर्या बनती है ।
बन्ध-मोक्ष-फलकी कथनी सब कथनमात्र रह जाती है,
अन्त न आता भव-भ्रमणका, सत्य-शान्ति नहिं मिलती है ॥

---

१ दीपनिर्वाणादिकी तरह आत्माके नाशरूप । २ ज्ञानादि विशेष गुणोंके अभावको लिये हुए । ३ गुणसे गुणी, और गुणीसे गुण अलग अकेला नहीं रहता । ४ अभावमय अथवा निजगुणोंके विनाशरूप । ५ कर्मसन्ततिकी अपेक्षा अनादिकालसे बँधा हुआ—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ऐसे चार प्रकारके बन्धनोंसे युक्त । ६ अपने शरीर-जितने आकारवाला । ७ संकोच-विस्तारके स्वभावको लिये हुए । ८ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप—अर्थात् द्रव्य-दृष्टिसे सदा स्थिर रहनेवाला एवं नित्य और पर्याय दृष्टिसे उपजने तथा विनशनेवाला एवं अनित्य ।

६

जब वह आत्मा मोहादिकके उपशमादिको पा करके,
बाहरमें गुरु-उपदेशादिक श्रेष्ठ निमित्त मिला करके।
विमल-सुदर्शन-ज्ञान-चरणमय अपनी ज्योति जगाता[1] है,
उस सुशक्ति[2] के प्रबल-घातसे[3] घाति-चतुष्क[4] नशाता है॥

७

तब वह भासमान होता स्थिर-अद्भुत-परम-सुगुण-गणसे—
प्रकटित हुआ अचिन्त्य सार है जिनका दुरित-विनाशनसे[5]—
केवलज्ञान-सुदर्शनसे, अतिवीर्य-प्रवरसुख-समकितसे,
शेष-लब्धिसे[6], भामण्डलसे, चामरादिकी सम्पत्से॥

८

सबको सदा जानता-लखता युगपत्, व्याप्त-सुतृप्त हुआ,
घन-अज्ञान-मोह-तम धुनता सबका सब निःस्वेद[7] हुआ।
करता तृप्त सुवचनामृतसे सभाजनोंको औ' करता—
ईश्वरता सब प्रजा-जनोंकी, अन्य-ज्योति[8] फीकी करता॥

---

१ इस आत्मज्योतिको जगानेका अमोघ उपाय 'महावीर-सन्देश' मे बतलाया गया है, जिसे 'सत्प्रेरणाखण्ड' में देखना चाहिए। २ शक्ति-प्रहरण, आयुधविशेष। ३ मूलोच्छेद करनेवाले समर्थ प्रहारसे। ४ घातिकर्मोंका चतुष्टय—अर्थात् जीवके ज्ञानादि अनुजीवी गुणोंको घातनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्म अपनी क्रमश ५, ९, २८, ५ ऐसी ४७ उत्तर-प्रकृतियोंके साथ। ५ महापापरूप घातिकर्मोंके क्षयसे। ६ नवकेवल-लब्धियोंमे से दान, लाभ, भोग, उपभोग और चारित्र नामकी शेष लब्धियोंसे। ७ श्रमजल (पसेव)-रहित एव विखेद। ८ परमात्म-ज्योतिसे भिन्न दूसरी सपूर्ण ज्योति अथवा दूसरोंकी—कल्पित ईश्वरों, देवब्राह्मन्यों और आप्ताभिमानियों आदिकी—ज्ञान-ज्योति एव प्रभा।

९

आत्माको आत्म-स्वरूपसे, आत्मामें प्रतिक्षण ध्याता—
हुआ सातिशय[1] वह आत्मा यों, सत्य-स्वयम्भू-पद पाता।
वीतराग, अर्हत्, परमेष्ठी, आप्त, सार्व,[2] जिन कहलाता,
परंज्योति, सर्वज्ञ, कृती[3], प्रभु, जीवन्मुक्त नाम पाता॥

१०-११

शेष निगड-सम[4] अन्य प्रकृतियाँ फिर छेदता हुआ सारी,
आयु-वेदनी-नाम-गोत्र हैं मूल-प्रकृतियाँ[5] जो भारी।
उन अनन्तदृग्-बोध-वीर्य-सुख-सहित शेष क्षायिकगुणसे—
[6]अव्याबाध-[7]अगुरुलघुसे औ' [8]सूक्ष्मपना-[9]अवगाहनसे—
शोभमान होता, तैसे ही अन्य गुणोंके समुदयसे—
प्रभवित हुए जो उत्तरोत्तर—कर्मप्रकृतिके संक्षयसे।
क्षणमें ऊर्ध्वगमन-स्वभावसे, शुद्ध-कर्ममल-हीन हुआ,
जा बसता है [10]अग्रधाममें, निरुपद्रव-स्वाधीन हुआ॥

---

१ अतिशयस-हित, महान्, महात्मा। २ सबके लिये हितरूप। ३ कृतार्थ पवित्र सम्पूर्ण हेयोपादेयके विवेकसे युक्त। ४ बेड़ियोकी तरह बन्धनरूप। ५ इन चार अघातिकर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ क्रमश. ४, २, ९३, २ ऐसे १०१ है। ६ वेदनीयकर्माश्रित साता-असातारूप आकुलताके अभावका नाम 'अव्याबाध' गुण है। ७ गोत्रकर्माश्रित उच्चता-नीचताके अभावका नाम 'अगुरुलघु' गुण है। ८ नामकर्माश्रित इन्द्रिय-गोचर स्थूलताके अभावको 'सूक्ष्मत्व' गुण कहते है। ९ आयु-कर्माश्रित परतन्त्रताके अभावको 'अवगाहन' गुण कहते हैं। १० लोक-शिखरके अग्र भागमे।

१२

मूलोच्छेद हुआ कर्मोंका, बन्ध-उदय-सत्ता न रही;
अन्याकार-ग्रहणका[1] कारण रहा न तब, इससे कुछ ही-
न्यून,[2] चरम-तनु-प्रतिमाके सम [3]रुचिराकृति ही रह जाता
और अमूर्तिक वह सिद्धात्मा, निर्विकार-पदको पाता ॥

१३

क्षुधा-तृषा-श्वासादि-काम-ज्वर-जरा-मरणके दुःखोंका—
इष्टवियोग-प्रमोह-आपदादिकके भारी कष्टोंका—
जन्म-हेतु जो, उस [4]भवके क्षयसे उत्पन्न सिद्ध-सुखका
कर सकता परिमाण कौन है ? लेश नहीं जिसमें दुखका।

१४

सिद्ध हुआ निज-उपादानसे[5], खुद[6] अतिशयको प्राप्त हुआ,
बाधा-रहित, विशाल, इन्द्रियोंके विषयोंसे रिक्त[7] हुआ।
बढ़ता और न घटता जो है, [8]प्रतिपक्षीसे रहित सदा,
उपमा-शून्य अन्य द्रव्योंकी नहीं अपेक्षा जिसे कदा ॥

१५

सुख उत्कृष्ट-अमित-शाश्वत वह, सर्वकालमें व्याप्त हुआ,
निरवधिसार[9] परम सुख, इससे उस सुसिद्धको प्राप्त हुआ।
जो परमेश्वर, परमात्मा औ' देह-विमुक्त कहा जाता,
स्वात्मस्थित-कृतकृत्य हुआ निज-पूर्ण-स्वार्थ[10]को अपनाता ॥

---

१ वर्तमान चरम शरीरसे भिन्न आकारको धारण करनेका। २ अन्तिम शरीरके प्रतिबिम्बसमान। ३ देदीप्यमान आकारको लिये हुए। ४ संसार। ५ आत्माकि उपादानसे—प्रकृतियोंके उपादानसे नहीं। अर्थात् आत्मा ही उसका मूल कारण है—वही सुखकार्यरूप परिणमता है। ६ स्वतः, स्वयम्। ७ शून्य। ८ दुखसे। ९ अनन्तमहिमा-युक्त। १० सम्पूर्ण विभाव-परिणतिको छोडकर सदाके लिये स्वरूपमें स्थित हो जाना ही आत्माका वास्तविक स्वार्थ है—स्वप्रयोजन है।

१६

कर्म-नाशसे उस सुसिद्धके क्षुधा-तृषाका लेश नहीं,
नाना-रस-युत अन्न-पानका, अतः, प्रयोजन शेष नहीं।
नहीं प्रयोजन [1]गन्ध-माल्यका अशुचि-योग जब नहीं कहीं;
नहीं काम मृदु-शय्याका जब निद्रादिकका नाम नहीं॥

१७

रोग-विना तत्शमनी[2] उत्तम औषधि जैसे व्यर्थ कही;
तम-विन दृश्यमान होते सब, दीपशिखा ज्यों व्यर्थ कही;
त्यों सांसारिक विषय-सौख्यका सिद्ध हुए कुछ काम नहीं,
बाधित[3] विषम[4] पराश्रित् भंगुर बन्धहेतु जो, अदुख नहीं॥

१८

यों अनन्तज्ञानादि-गुणोंकी सम्पत्से जो युक्त सदा,
विविध सुनय-तप-संयमसे हो सिद्ध न भजते विकृति[5] कदा।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-[6]चरणसे तथा सिद्धपदको पाते,
पूर्ण-यशस्वी हुए, विश्व-देवाधिदेव जो कहलाते॥

१६

आवागमन विमुक्त हुए, जिनको करना कुछ शेष नहीं,
स्वात्मलीन, सब दोष-हीन, जिनके विभावका लेश नहीं।
राग-द्वेष-भय-मुक्त, निरंजन[7], अजर-अमर-पदके स्वामी,
मंगलभूत[8] पूर्ण-विकसित सच्चिदानन्द, जो निष्कामी॥

---

१ कर्पूरादि सुगन्ध द्रव्यों और पुष्पों अथवा पुष्पमालाओंका। २ उस रोगको शान्त करनेवाली। ३ बाधा-सहित। ४ एक रस न रहकर वृद्धि-ह्रासको लिये हुए। ५ विक्रिया अथवा विकारको प्राप्त नहीं होते। ६ सम्यक् चारित्र। ७ कर्ममल-रहित। ८ स्वयं मंगलमय और दूसरोंके लिये मंगलके कारण।

२०

ऐसे हुए अनन्त सिद्ध औ' वर्तमान हैं संप्रति[1] जो,
आगे होंगे, सकल जगतमें, विवुध-जनोंसे संस्तुत जो।
उन सबको, नत-मस्तक हो, मैं वन्दूँ तीनों काल सदा;
तत्स्वरूपकी[2] शीघ्र-प्राप्तिका इच्छुक होकर, सहित मुदा[3] ॥

२१

कारण, उनका जो स्वरूप है वही रूप सब अपना है,
उस ही तरह सुविकसित होगा, इसमें लेश न कहना है।
उनके चिन्तन-[4]वन्दनसे निजरूप सामने आता है,
भूली निज-निधिका दर्शन यों, प्राप्ति-प्रेम उपजाता है॥

२२

इससे सिद्ध-भक्ति है सच्ची जननी सब कल्याणोंकी,
श्रेयोमार्ग[5] सुलभ करती, बन हेतु कुशल-परिणामोंकी।
कही 'सिद्धि-सोपान,' इसीसे प्रौढ[6] सुधीजन अपनाते,
पूज्यपादकी 'सिद्ध-भक्ति' लख, 'युग-मुमुक्षु' अति हर्षाते॥

---

१ इस समय (विदेहादिकमें)। २ उनके अनन्तज्ञानादिरूप शुद्ध स्वरूपकी। ३ सहर्ष। ४ प्रणाम-स्तुति - जयवादादिरूप विनय-क्रियाको वन्दना अथवा वन्दन कहते हैं। ५ कल्याणमार्ग, मोक्षमार्ग। ६ परिपक्व, उन्नत।

मेरी द्रव्यपूजा

१

कृमि-कुल-कलित नीर है, जिसमें मच्छ-कच्छ-मेंडक फिरते,
हैं मरते औ' वहीं जनमते, प्रभो ! मलादिक भी करते ।
दूध निकालें लोग छुड़ाकर बच्चेको पीते पीते,
है उच्छिष्ट अनीति-लब्ध, यों योग्य तुम्हारे नहीं दीखे ॥

२

दही-घृतादिक भी वैसे हैं कारण उनका दूध यथा;
फूलोंको भ्रमरादिक सूँघें वे भी हैं उच्छिष्ट तथा ।
दीपक तो पतंग-कालानल[1] जलते जिनपर कीट सदा;
त्रिभुवन-सूर्य ! आपको अथवा दीप-दिखाना नहीं भला ॥

३

फल-मिष्टान्न अनेक यहाँ, पर उनमें ऐसा एक नहीं,
मल-प्रिया मक्खीने जिसको आकर, प्रभुवर ! छुआ नहीं ।
यों अपवित्र पदार्थ, अरुचिकर, तू पवित्र सब गुण-घेरा;
किस विधि पूजूँ ? क्या हि चढाऊँ ? चित्त डोलता है मेरा ॥

---

१ पतंगोंके लिये कालरूपी अग्नि, अतः 'हिंसोपकरण;' और कीट-पतंगोंके निरन्तर जलते रहनेसे श्मशान-तुल्य अपवित्र, ऐसे दीपक है ।

४

औ' आता है ध्यान—'तुम्हारे क्षुधा-तृषाका लेश नहीं,
नाना-रस-युत अन्न-पानका, अतः, प्रयोजन रहा नहीं।
नहिं वांछा, न विनोद-भाव, नहिं राग-अंशका पता कहीं,
इससे व्यर्थ चढ़ाना होगा, औषध-सम, जब रोग नहीं'॥

५

यदि तुम कहो 'रत्न-भूषण-वस्त्रादिक क्यों न चढ़ाते हो,
अन्य-सदृश, पावन हैं, अर्पण करते क्यों सकुचाते हो'।
तो तुमने निःसार समझ जब खुशी खुशी उनको त्यागा,
हो वैराग्य-लीन-मति, स्वामिन्! इच्छाका तोड़ा तागा॥

६

तब क्या तुम्हें चढ़ाऊँ वे ही, करूँ प्रार्थना 'ग्रहण करो'?
होगी यह तो प्रकट अज्ञता तव स्वरूपकी, सोच करो।
मुझे धृष्टता दीखे अपनी और अश्रद्धा बहुत बड़ी,
हेय तथा संत्यक्त वस्तु यदि तुम्हें चढ़ाऊँ घडी घड़ी॥

७

इससे 'युगल' हस्त मस्तकपर रखकर नम्रीभूत हुआ,
भक्ति-सहित मैं प्रणमूँ तुमको, बार-बार, गुण-लीन हुआ।
संस्तुति शक्ति-समान करूँ औ' सावधान हो नित तेरी;
काय-वचनकी यह परिणति ही अहो! द्रव्यपूजा[1] मेरी॥

---

१ श्रीअमितगति आचार्यने इसीको पुरातन-द्रव्यपूजा—प्राचीनो-द्वारा अनुष्ठित द्रव्यपूजा—बतलाया है। आप अपने 'उपासकाचार' के १२ वें परिच्छेदमें लिखते हैं—

८

भाव-भरी इस पूजासे ही होगा आराधन तेरा,
होगा तव सामीप्य प्राप्त औ' सभी मिटेगा जग-फेरा।
तुझमें मुझमें भेद रहेगा नहिं स्वरूपसे तव कोई,
ज्ञानानन्द-कला[1] प्रकटेगी, थी अनादिसे जो खोई॥

वचो-विग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः॥

'काय और वचनको अन्य व्यापारोंसे हटाकर परमात्माके प्रति—हाथ जोड़ने, शिरोनति करने, स्तुति पढ़ने आदि-द्वारा—एकाग्र करनेका नाम 'द्रव्यपूजा' और मनकी नाना-विकल्प-जनित व्यग्रताको दूर करके उसे ध्यानादि-द्वारा परमात्मामें लीन करनेका नाम 'भावपूजा' है। ऐसा पुरातन आचार्योंने—अंग-पूर्वादिशास्त्रोंके पाठियोंने—प्रतिपादन किया है।'

१ ज्ञान और आनन्दकी वह विभूति।

वाहुवलिजिन-अभिनन्दन

ऋषभदेवके पुत्र, सुनन्दाके प्रिय नन्दन।
वाहुवली जिनराज, करें मिल सव अभिनन्दन ॥

हे नरवर! अवतार लिया तुम पूज्य ठिकाने,
अवसर्पिणि-युग-आदि, नाभिसुत-वृषभ-घराने।
पाले पोपे गये, रहे सत्संस्कारोंमें,
आत्मज्ञान-रत सदा रहे दृढ अधिकारोंमें ॥

हे नृपवर! तुम राजपाट निज पितुसे पाया,
तृपा-रहित हो न्याय-नीतिसे उसे चलाया।
सवलोंका ले पक्ष, दुर्वलोंको न सताया,
सर्व प्रजाका प्रेम प्राप्त कर, यश उपजाया ॥

पोदन-मंडल-भूमि तुम्हारी राज्य-मही थी,
जहाँ प्रकृतिश्री पूर्णरूपसे राज रही थी।
भरत तुम्हारे ज्येष्ठ भ्रात थे, गुण-अगियारे,
प्रवर-अयोध्या-राज्य-रमाके भोगनहारे ॥

उन्हें महत्वाकांक्षाने धर आन दबाया,
छहों खंडको जीत राज्यका भाव समाया।
चक्ररत्न ले हाथ विजयको निकल पड़े थे,
देश-देशके नृपति भेंट ले, पाँव पड़े थे॥

जब वे कर दिग्विजय देशको लौट रहे थे,
सर्वप्रजामें आनँदका रस घोल रहे थे।
चक्ररत्न आ रुका राजधानीके द्वारे,
कर नहीं सका प्रवेश, यत्न कर बुधजन हारे॥

चिन्तातुर थे भरत, मंत्रियोंने बतलाया—
'बाहुबली-महाराज-राज नहिं हाथों आया।
जब तक वे आधीन्य नहीं स्वीकार करेंगे,
चक्र-सहित सुप्रवेश देश हम कर न सकेंगे'॥

तभी भरतने दूत-हाथ सन्देश पठाया,
जो कर शीघ्र प्रयाण, आपके सम्मुख आया।
'करो सभेंट प्रणाम, शीघ्र या लड़ने आओ,
समर-भूमिमें स्वबल दिखा, वैशिष्ट्य बताओ'॥

सुन कर यह सन्देश आगसी तनमें लागी,
स्वाभिमानको चोट लगी, युद्धेच्छा जागी।
फलतः दोनों ओर युद्धके साज सजे थे,
योद्धा-गण सब लड़नेको तय्यार खड़े थे॥

उसी समय, आदेश सैनिकोंने यह पाया—
सुलह-सन्धिका रूप अनोखा सम्मुख आया।
'सैनिक दल अब नहीं लड़ेंगे, नहीं कटेंगे,
दोनों भाई स्वयं आय, निःशस्त्र लड़ेंगे' ॥

'दृष्टि-मल्ल-जल-युद्ध, इन्हें जो जीत सकेगा—
वही सकल साम्राज्य-भूमि स्वाधीन करेगा।
उद्घोषित सम्राट बनेगा वह ही जगमें,
वही करेगा राज्य विश्वके इस प्रांगणमें' ॥

अहो वीरवर! दृष्टियुद्ध जब सम्मुख आया--
तब तुमने नृपराज भरतको खूब छकाया।
आखिर मानी हार, थकी जब उनकी ग्रीवा,
हुई सहायक तुम्हें तुम्हारी ऊँची काया ॥

इसी तरह जलयुद्ध-विजयको तुमने पाया,
जल-क्षेपणमें भरतराजको अन्त हराया।
अपमानित थे भरत, लाजने उन्हें सताया,
मल्लयुद्धमें विजय-प्राप्तिका भाव बढाया ॥

मल्लयुद्धके लिये अखाडा खूब सजा था,
युद्ध देखने जनसमूह सब उमड़ पड़ा था।
चर्चा थी सब ओर—'युद्धश्री कौन वरेगा ?
कौन करेगा राज्य, मुकुट निज सीस धरेगा' ॥

इसी बीचमें युद्ध सामने सबके आया,
दाव-पेंच औ' युद्ध-कलाका रंग दिखाया।
एक तरफ थे आप, उधर भरतेश खड़े थे,
अपनी अपनी विजय-प्राप्तिके लिये अड़े थे॥

इतनेमें ही एक सपाटा तुमने मारा,
हाथों लिया उठाय भरतको कन्धे धारा।
पटक भूमिपर दिया नहीं, यह भाव विचारा—
'आखिर तो है पूज्य पिता-सम भ्रात हमारा'॥

उधर क्रोध भरतेश-हृदयमें पूरा छाया,
सह न सका अपमान घोर, सब न्याय भुलाया।
चक्ररत्नको याद किया, वह करमें आया,
निर्दय होकर उसे आप पर तुरत चलाया॥

हहाकार मच गया, चक्र नभमें गुर्राया,
शंकित थे सब हृदय, सोच अनहोनी माया।
पर वह बन कर सौम्य आपके सम्मुख आया,
परिक्रमा दे तीन, तुम्हें निज सीस झुकाया॥

असफल लौटा देख, भरत दुखपूर हुआ था,
उसका सारा गर्व आज चकचूर हुआ था।
होकरके असहाय पुकारा—'हारा भाई!'
तब तुम भूमि उतार उसे धिक्कार बताई!!

विजय-प्राप्ति पर भरत-राज्यश्री सम्मुख धाई,
वरमाला ले तुम्हें शीघ्र वह वरने आई।
पर तुमने हो निर्ममत्व धुतकार बताई,
जग-लीला लख पूर्ण-विरक्ती तुम पर छाई॥

'वेश्या-सम इस राज्य-रमाको मैं नहिं भोगूँ,
अपना भी सब राजपाट मैं इस दम त्यागूँ।
पितृ-मार्ग पर चलूँ, निजात्माको आराधूँ,
नहीं किसीसे राग-रोष रख संयम साधूँ॥'

ये थे तव उद्गार, जिन्हें सुन रोना आया,
भरतराजका निठुर हृदय भी था पिघलाया।
निज-करणीका ध्यान आन वह बहु पछताया,
गद्गद होकर तुम्हें बहुत रोका समझाया॥

पर तुम पर कुछ असर न था रोने-धोने का,
समझ लिया था मर्म विश्व-कोने-कोनेका।
आत्म-सुरस-लौ लगी, और कुछ तुम्हें न भाया,
अनुनय-विनय न काम किसीका कुछ भी आया॥

अहो त्यागिवर! त्याग चले सब जगकी माया,
वस्त्राभूषण फेंक दिये, जब रस नहिं आया।
निर्जन वनमें पहुँच खड़े सद्ध्यान लगाया,
प्रकृति हुई सब मुग्ध, देख तव निर्मम काया॥

नहीं खाँस-खंकार, नहीं कुछ खाना-पीना,
नहीं शयन-मल-मूत्र, नहीं कुछ न्हाना-धोना।
नहीं बोल-बतलाव, नहीं कहिं जाना-आना,
खड़े अटल नासाग्र-दृष्टि धर दिक्पट-बाना॥

वँबी बना कर चरण-पार्श्वमें नाग बसे थे,
क्रूर जन्तु आ पास, क्रूरता-भाव तजें थे।
वेल-लताएँ इधर-उधरसे खिंच आई थीं,
अंगोंसे तव लिपट, खूब सुख-सरसाई थीं॥

तुम थे अन्तर्दृष्टि, देखते 'कर्म-गणोंको—
योगाऽनलमें भस्म, विकसते स्वात्म-गुणोंको'।
इस ही से आनन्द-मग्न थे, गुण-अनुरागी,
वहि-चिन्तासे मुक्त, मोह-ममताके त्यागी॥

हे योगीश्वर! योग-साधना देख तुम्हारी,
चकित हुए सब देवि-देवता औ' नर-नारी।
एक वर्ष तुम खड़े रहे अविचल—अविकारी,
भूख-प्यास औ' शीत-घाम-बाधा सब टारी॥

योग-कीर्ति भरतेश सुनी तब दौड़े आए,
चरणोंमें पड़ सीस नमा, तव गुण बहु गाए।
उसी समय अविशिष्ट मोह सब नष्ट हुआ था,
शेष घातिया कर्म-पटल भी ध्वस्त हुआ था॥

केवल-रवि तब आत्म-धाममें उदित हुआ था,
विश्व चराचर ज्ञान-मुकुरमें झलक रहा था।
दर्शन, सुख औ' वीर्य-शक्तिका पार नहीं था,
जीवन्मुक्त स्वरूप आपका प्रकट हुआ था॥

लख कर यह सब दृश्य, देव-गण पूजन आए,
हर्षित हो अतिसुरभि-पुष्प नभसे बरसाए।
दुन्दुभि-बाजे बजे, शोर सुन सब जन धाए,
पूजा कर, निज सीस नमाकर, अति हर्षाए॥

गन्ध-कुटी तब रची गई देवोंके द्वारा,
जिसमें बही अटूट भवद्वचनामृत-धारा।
पीकर आत्म-विकास-मार्गको सबने जाना,
जिनका था भव निकट, योग-व्रत उनने ठाना॥

अन्त समय कैलाश-शिखरसे निर्वृति पाई,
जहाँ पिता आदीश राजते थे सुखदाई।
आवागमन-विमुक्त हुए, भव-बाधा टाली,
शाश्वत-सुखमें मग्न हुए, निजश्री सब पाली॥

इस युगके हो प्रमुख सिद्ध भगवान हमारे,
ऋषभदेवसे पूर्व, परम शिवधाम पधारे।
निजादर्श रख गये जगतके सम्मुख ऐसा,
बनें भव्य 'युगवीर' त्याग सब कौड़ी-पैसा॥

महावीरजिन-अभिनन्दन

नृप-सिद्धार्थ-सुपुत्र, मात-त्रिशलाके नन्दन ।
महावीर जिनराज, करें मिल सब अभिनन्दन ॥

हे नरवर ! अवतार लिया तुम राज-घराने,
जहाँ नीति औ' न्याय प्रवर थे ठीक-ठिकाने ।
लिच्छवि-कुल खिल उठा, बजे बाजे मन-माने,
कुण्डनगरमें ठौर ठौर मुखरित थे गाने ॥

मात-पितादिकके सुहर्षका पार नहीं था,
गर्भकालसे विभव सभी, जिनका वर्द्धित था ।
दान-बधाई बँटन-योग्य शुभ ठाठ लगा था,
'वर्द्धमान' आ गया, सभीके यह मुख पर था ॥

देवोंने भी हर्ष धार जन्मोत्सव ठाना,
मेरु-शिखर क्षीराऽम्बु-घटोंसे रचा न्हुलाना ।
धन्य त्रयोदशि हुई चैत-सित, जन्म-योगसे,
वैशाली थी मुदित, कुण्डपुर अपनानेसे ॥

उभय-दृष्टिसे देख, इन्द्र नहिं तृप्त हुआ था,
दृष्टि-सहस्र उघार, अहो ! सन्तुष्ट हुआ था ।
विश्वेश्वरका बालरूप जब उसने जाना,
नाच उठा था भक्ति-भावमें हो दीवाना ॥

'वीर' नाम दे तुम्हें, इन्द्रने अति सुख माना,
कल-रवसे गा उठा, मधुर था थुति-मय गाना।
कभी स्वर्गसे आय, नाट्य रचता था नाना,
कभी सखा बन संग, खेलता था मन-माना ॥

बुद्धि-विकास निहार, चकित था शक्र सयाना,
निर्भयता-बल-ओज-तेजका कौन ठिकाना!
सभी गुणोंमें निज-विकासकी होड़ लगी थी,
तव आश्रयमें पहल-करनकी चाह जगी थी ॥

यों तव रूप अनूप, सभीके मन भाता था,
तव दर्शनको चित्त, सदा ही ललचाता था।
दो मुनिवर सुन कीर्ति, दर्शनोंको उमगाए,
सावधान हो चले, हिये निज शंक धराए।

नृप-आँगनमें पहुँच, छबी देखत तब तनकी,
शंका हुई विदीर्ण, उभय मुनिवरके मनकी।
समाधान पा पूर्ण, हृदय अति हर्ष समाया,
'सन्मति' दे शुभ नाम, तुम्हें तीर्थेश बताया ॥

एक दिवस जब आप, वृक्ष-क्रीड़ा करते थे,
नृप-कुमार-सँग, मोद हृदय भारी धरते थे।
वृक्ष-मूलसे एक नाग निकला अनजाने,
[illegible] तरुसे वेढ़ लगा फुंकार मचाने ॥

भय-विह्वल हो राज-कुँवर सब घरको भागे,
पर तुम निर्भय नाग-राजसे क्रीडन लागे।
गह दृढ फण, निज वाह बनाया तुमने उसको,
घुमा-फिरा-कर खूब छकाया तुमने उसको॥

क्रीडामें मद-हीन हुआ तब वह शरमाया,
देवरूप निज धार आपके सम्मुख आया।
क्षमा माँग, अपराध बता, चरणों सिर धारा,
'महावीर' दे नाम तुम्हें, निज-लोक सिधारा॥

अध्यापक थे चकित, देख तव मति-वैभवको,
अवधि-शक्ति पर मुग्ध, तुच्छ गिनते अपनेको।
छन्दोऽलंकृति-शब्द-शास्त्रको अधिकृत पाया,
नीति-न्याय-नैपुण्य परख, तब गुण बहु गाया॥

युवकश्रेष्ठ हे वीर! जबै तरुणाई आई—
बाल्यावस्था बीत गई सुखमें सुखदाई।
तबै कामने तुम्हें फँसाने जाल बिछाया—
ब्याह-करण-प्रस्ताव आपके सम्मुख आया॥

पुत्री नृप-जितशत्रु, रूपमें थी लासानी,
गुण-गरिमा औ' ओज-तेजमें शची-समानी।
नाम-यशोदा-संग, ब्याह सब विधि प्रस्तुत था,
उभय-पक्ष-आनन्द, इसीमें संवर्द्धित था॥

पर तुम थे तत्त्वज्ञ, तुम्हें यह स्वाँग न भाया,
आत्म-वंचना लगी, तनिक नहिं चित्त लुभाया।
उधर मार्गच्युत-पतित-जनोंका ध्यान समाया,
दुख-मोचनका भाव जिन्होंके था अधिकाया॥

अतः पितासे कहा—'मुझे यह इष्ट नहीं है
मम परिणतिके राग-रंग विपरीत लगे है
मैं तो यह गृह-वास छोड़ने तक प्रस्तुत हूँ
वनोवास कर आत्म-साधनाको उद्यत हूँ।

मुझे भोग ये रोग लगें, कुछ सार न दिखता,
भव-वर्द्धनके हेतु, हरें मनकी सब क्षमता।
नश्वर सब संसार, मोह-वश फँसें अज्ञानी,
वे ही जिन निज आत्म-सुनिधि नहिं है पहचानी॥

उस दिन नाटक-मध्य, मुझे दस भव दिख पाए,
तबसे हूँ उद्विग्न, चित्तको कुछ न सुहाए।
अब मैं निज-संसार बढ़ाना नहिं चाहत हूँ,
जिन-दीक्षा ले, कर्म काट, शिव-सुख चाहत हूँ॥'

सुन ये वीर-विचार, पिताका मन भर आया,
दृढ निश्चयके अग्र, नहीं कुछ वश चल पाया।
मात-तात-स्वजनादि, सभीने बहु समझाया,
अनुनय-विनय न काम, किसी का कुछ भी आया॥

अहो त्यागिवर ! त्याग चले सब जगकी माया,
वस्त्राभूषण फेंक दिये, जब रस नहिं आया।
ज्ञातखंड-वन योग धार, मँगसिर वदि दसको,
ध्यान लगा दृढ, प्राप्त किया झट मनपर्ययको॥

प्रायः द्वादश वर्ष, घोर तप तुमने साधा,
परिषह औ' उपसर्ग, दे सके नहिं कुछ बाधा।
गुप्ति-समिति-धर्मादि बने दृढ, रिपु थर्राया,
आत्म-विकास प्रशस्त हुआ, समता-रस छाया॥

यों करते, वैशाख-शुक्ल-दशमी-दिन आया,
ऋजुकूला-तट शालवृक्ष-तल, शीतल छाया।
क्षपक-श्रेणिको माँड, आपने ध्यान लगाया,
मोहादिक रिपु नाश, ज्ञान केवल उपजाया॥

केवल-रवि जब आत्म-धाममें उदित हुआ था,
विश्व चराचर ज्ञान-मुकुरमें झलक रहा था।
दर्शन, सुख औ' वीर्य-शक्तिका पार नहीं था,
जीवन्मुक्त स्वरूप आपका प्रकट हुआ था॥

लखकर यह सब दृश्य, देव-गण पूजन आए,
हर्षित हो अति-सुरभि-पुष्प नभसे वर्षाए।
दुन्दुभि - बाजे बजे, शोर सुन सब जन धाए,
पूजा कर, निज सीस नमाकर, अति हर्षाये॥

मौन रहे पर आप, किसीने भेद न पाया,
अपने ही दुर्भाग्य-उदयको सबने गाया।
करके मौन-विहार, आप विपुलाचल आए,
सुर-नर मुनिजन जुड़े, हृदय उल्लास धराए॥

समवसरणकी दिव्य-छटा देखे बनती थी,
राजगृही थी मुदित, तीर्थ-शोभा धरती थी।
वर्षारंभ औ' युगारम्भकी शुभ-वेला थी,
सावन पड़वा कृष्ण-पक्षकी पुन्य-तिथी थी॥

सूर्योदय-संग इन्द्रभूति-गौतम ऋषि आया,
निज-विद्या औ' दीर्घ-तपस्यासे गर्वाया।
जीव-विषयमें वाद-करणका भाव लिये था,
हारे पर शिष्यत्व-ग्रहण-संकल्प किये था॥

कर प्रवेश वह समवसरणमें बहु चकराया,
मानस्तम्भ निहार, होश कुछ उसको आया।
गर्व हुआ सब खर्व, हृदयमें मृदुता आई,
दृष्टि-ग्रहण-भू हुई परिष्कृत, समता छाई॥

गन्ध-कुटीमें देख आपको वह हर्षाया,
भूल गया सब वाद-करणकी झूठी माया।
विभ्रम था जो जीव-विषयका सभी नशाया,
गद्गद होकर तुम्हें ऋषीने सीस नमाया॥

अनेकान्तकी दृष्टि, ग्रहण कर समकित पाया,
ज्ञान बना संज्ञान हृदयमें दृढता लाया।
मिथ्या-मति तज आत्म-भावना जाग उठी थी,
तब सम आत्म-विकास-करणकी चाह जगी थी॥

अतः परिग्रह त्याग सभी, जिन-मुद्रा धारी,
ध्यान-मग्न हो, सप्त-ऋद्धि पा, गण-अधिकारी—
बने, तभी यह देख सभी सुर-नर हर्षाए,
श्रद्धाञ्जलिके मूक-भावसे पुष्प चढ़ाए॥

उसी समय हे वीर प्रभो ! तब दिव्य-ध्वनि भी,
घन-गर्जन-सम खिरी, सुधर्मामृत वर्षाती।
बीज-पदोंमें दिव्य-वाणि-अवतार हुआ था,
बीज-ऋद्धि-धर गौतमने विस्तार किया था॥

द्वादशांगमें सभी सुश्रुतका सार भरा था,
जीवाऽजीव-स्वरूप-भेद सब प्रकट हुआ था।
मोक्षमार्ग-भवभ्रमण-मार्गका भेद खुला था,
आत्म-सुहितका मर्म, सभी पर व्यक्त हुआ था॥

तीर्थ-प्रवर्तन हुआ, इसी वाणीके द्वारा,
संशय-विभ्रम मिटे, मिटा जगका अँधियारा।
'सर्वोदय' वर-तीर्थ, तुम्हारा सबको प्यारा,
सर्व-उदयमें व्याप्त, सभी जगका निस्तारा॥

कर्म-बन्धसे बँधे, सभी संसारी प्राणी,
अपनी सुधि सब भूल, दुःख सहते अज्ञानी।
उनके ही हित-हेत, अवतरी सन्मति-वाणी,
उनके भाग्य विशाल, सुनी जिनने जिन-वाणी ॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण शिव-मग बतलाया,
मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चरण भव-हेतु जताया।
अनेकान्तकी दृष्टि सती, यह सत्य सुझाया,
उससे जो नहिं युक्त, उसे मिथ्योक्त बताया ॥

कुनय-दृष्टियाँ मिलें, तभी सम्यक्त्व बनातीं,
अलग अलग निरपेक्ष रहे, मिथ्यात्व कहातीं।
मुख्य-गौण-अवलम्ब लिये, सब सुनय-व्यवस्था,
मुख्य विवक्षित, गौण अनर्पित, तत्त्वाऽवस्था ॥

असद्भूत नहिं गौण, गौण सद्भूत कहाता,
अवसर पाकर गौण तत्त्व ही मुख बन जाता।
ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्म जगत है प्रतिक्षण सारा,
सतका यही स्वरूप, असत् विपरीत विचारा ॥

पर्यायोंसे जुदा, जगतमें द्रव्य नहीं है,
नहीं द्रव्यसे जुदी, कोइ पर्याय कहीं है।
गुणसे गुणी न भिन्न, गुणीसे गुण नहिं न्यारा,
निश्चय औ' व्यवहार, नयोंकी दो मुख धारा ॥

निश्चयसे व्यवहार सर्वथा भिन्न नहीं है,
दोनों ही हैं मित्र, शत्रुता नहीं क़हीं है।

एक-विना अस्तित्व, दूसरेका नहिं बनता,
एक-विना नहिं काम, दूसरेका कुछ चलता ॥

विश्व अनादि-अनन्त, कोइ नहिं कर्ता-हर्ता;
निज-कर्मोंका भोग, भोगना खुद ही पड़ता।
अन्तर्बहि दो हेतु मिले, सब कारज सधता,
निज-स्वभाव तज, कोइ द्रव्य पर-रूप न बनता ॥

हिंसाके सम पाप, जगतमें अन्य नहीं है;
नहीं अहिंसा-सदृश, विश्वमें धर्म कहीं है।
राग-द्वेश-क्रोधादि-वृत्तियाँ हिंसा-मय हैं;
इनसे जो विपरीत, अहिंसा-मय वे सब हैं ॥

दो पैरों पर खड़ा, सदा सब जिन-शासन है,
अनेकान्त-पद एक, अहिंसा-पद दूजा है।
अनेकान्त संघर्ष विचारोंका सु-मिटाता,
सदा समन्वयकी सु-दृष्टिको है अपनाता ॥

और अहिंसा सदाचारका पाठ पढ़ाती,
सब आचार-विरोध, शान्त कर सुख उपजाती।
दोनों ही संघर्ष, जगतमें दुखके दाता,
दोनों पदका शरण, सभीको शान्तिविधाता ॥

यों आचार-विचार-तत्त्व वाणीने गाया,
जिसका सारा मर्म, मुख्य गणधर समझाया।

स्वावलम्बका सर्व जगतको पाठ पढ़ाया,
सदा-पराश्रित-दैन्य-वृत्ति अपराध बताया ॥
निज-परिणामोंकी सँभालका तत्त्व सुझाया,
सुख-दुखमें समभाव-धरण कर्तव्य बताया ।
अनासक्ति-मय कर्म-योगका गुण दर्शाया,
भक्ति-योग औ' ज्ञान-योगका मर्म जताया ॥

धर्मामृत पी, सभी भव्य-चातक हर्षाये,
आन्दोलित थे हृदय, कहत कुछ बन नहिं आवे ।
हेयाऽऽदेय-विवेक-लहर थी जगमें छाई,
'निज-करमें स्वोत्थान-पतन' की बात सुहाई ॥
हे तीर्थेश्वर ! तीस वर्ष यों दिव्य-ध्वनिसे,
तीर्थप्रवर्तित हुआ लोकमें तव विहरनसे ।
श्रेणिकादि सन्तुष्ट हुए, सब संशय भागे,
जिनका था शुभ उदय, आत्म-हित साधन लागे ॥

अन्त-समय पावा-सुनगरसे निर्वृति पाई,
कार्तिक-चौदस-अमा-सन्धिमें, सब सुखदाई ।
आवागमन-विमुक्त हुए, भव-बाधा टाली,
शाश्वत-सुखमें मग्न हुए, निज-श्री सब पाली ॥
इस युगके हो अन्त्य-तीर्थंकर आप हमारे,
शिव-सुमार्ग दर्शाय, परम-शिव-धाम पधारे ।
सुर-नर-मुनि मिल सभी, तुम्हारा यश बहु गावें,
बनें भव्य 'युगवीर' वीरको जो नित ध्यावें ॥

: २ :

भावना-खण्ड

मेरी भावना

(राष्ट्रीय नित्यपाठ)

१

जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते, सब जग जान लिया,
सब जीवोंको मोक्ष-मार्गका निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा[1] या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भावसे प्रेरित हो यह चित्त उसीमें लीन रहो॥

२

विषयोंकी वाँछा नहिं जिनके, साम्य-भाव धन रखते हैं,
निज-परके हित-साधनमें जो निश-दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या विना खेद[2] जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगतके दुख-समूहको हरते हैं॥

३

रहे सदा सत्संग उन्हींका, ध्यान उन्हींका नित्य रहे,
उन ही जैसी चर्यामें यह चित्त सदा अनुरक्त रहे।

---

१ अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिसे 'जिन, हरि, हर, ब्रह्मा' के स्थान पर 'शिव, गौड, खुदा, हरि' ऐसा पाठ भी पढ सकते है। २ 'खेद' के स्थान पर 'दम्भ' भी पढा जा सकता है।

नहीं सताऊँ किसी जीवको, झूठ कभी नहिं कहा करूँ,
परधन-वनिता[1] पर न लुभाऊँ, संतोषाऽमृत पिया करूँ ॥

४

अहंकारका भाव न रक्खूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ,
देख दूसरोंकी बढ़ती को, कभी न ईर्षा-भाव धरूँ ।
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल - सत्य - व्यवहार करूँ,
बने जहाँ तक इस जीवनमें औरोंका उपकार करूँ ॥

५

मैत्री-भाव जगतमें मेरा सब जीवोंसे नित्य रहे,
दीन-दुखी जीवों पर मेरे उरसे करुणा-स्रोत बहे ।
दुर्जन-क्रूर-कुमार्गरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्य-भाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ॥

६

गुणी-जनोंको देख हृदयमें मेरे प्रेम उमड आवे,
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे ।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहणका भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे ॥

७

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे ।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्याय-मार्गसे मेरा कभी न पद डिगने पावे ॥

---

१ स्त्रियाँ 'वनिता' के स्थान पर 'भर्ता' पढे ।

हो कर सुखमें मग्न न फूलूँ, दुखमें कभी न घबराऊँ,
पर्वत-नदी-स्मशान-भायानक-अटवीसे नहीं भय खाऊँ।
रहे अडोल-अकम्प निरन्तर, यह मन, दृढतर बन जावे,
इष्टवियोग - अनिष्टयोगमें सहन - शीलता दिखलावे ॥

९

सुखी रहें सब जीव जगतके, कोई कभी न दुख पावे,
वैर-पाप-अभिमान छोड़, जग नित्य नये मंगल गावे।
घर-घर चर्चा रहे धर्मकी, दुष्कृत दुष्कर हो जावें,
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना, मनुज-जन्म-फल सब पावें ॥

१०

ईति-भीति व्यापें नहीं जगमें, वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्म-निष्ठ होकर राजा भी न्याय प्रजाका किया करे।
रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्तिसे जिया करे,
परम अहिंसा-धर्म जगतमें फैल सर्व-हित किया करे ॥

११

फैले प्रेम परस्पर जगमें, मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय-कटुक-कठोर-शब्द नहिं, कोई मुखसे कहा करे।
बनकर सब 'युग-वीर' हृदयसे धर्मोन्नति-रत[1] रहा करें,
वस्तु-स्वरूप विचार खुशीसे [2]जीवन-यापन किया करें ॥

---

१ 'धर्मोन्नति-रत' के स्थान पर 'स्वात्मोन्नति-रत' तथा 'देशोन्नति-रत' पाठ भी पढ़े जा सकते है। २ इसवाक्य के स्थान पर 'सब दुख-सकट सहा करें' यह पाठ भी पढा जाता है।

अनित्य-भावना

जिनके वचन करुण भी, शरगण हों मोह-शत्रु-नाशनको।
धैर्य-धनुर्धर - योगी - सुभटोंके, जयहु सु-जिनदेव ॥

एक दिवस भोजन न मिले या, नींद न निशिको आवे,
अग्नि-समीपी अम्बुज-दल-सम, यह शरीर मुरझावे।
शस्त्र-व्याधि-जल-आदिकसे भी, क्षण भरमें क्षय हो है,
चेतन! क्या थिर-बुद्धि देहमें? विनशत अचरज को है॥

चर्म-मढी, दुर्गन्ध - अशुचिमय - धातु - कुभित्ति - घिरी है,
क्षुधा-आदि-दुख-मूषिक-छिद्रित, मल-मूत्रादि-भरी है।
जरत स्वयं ही जरा-वह्निसे, काय-कुटी सब जानें,
मूढ मनुज हैं, इतने पर भी जो थिर-शुचितर मानें।

जल-बुद्बुद-सम है तनु, लक्ष्मी इन्द्रजालवत् मानो,
तीव्रपवन-हत-मेघ-पटल-सम, धन-कान्ता-सुत जानो।
मत्त-त्रियाके ज्यों कटाक्ष त्यों, चपल विषय-सुख सारे,
इससे इनकी प्राप्ति-नष्टि, में हर्ष-शोक क्या प्यारे?॥

काया जननी दुःख-मरणकी, हुआ योग यदि यासे,
तो फिर शोक न बुधजन कीजे, मरते वा दुख आते।
आत्म-स्वरूप विचारो तब तो, नित तज आकुलताई,
सम्भव हो न कभी फिर जिससे, देह-जन्म दुखदाई॥

दुर्निवार-निजकर्म-हेतु-वश, इष्ट स्वजन मर जावे,
जो उस पर बहु शोक करे नर वह उन्मत्त कहावे।
क्योंकि शोकसे सिद्धि नहीं कुछ, हाँ इतना फल होवे,
मूढमना वह मानव अपने धर्मार्थादिक खोवे॥

होकर उदित सूर्यमंडल ज्यों, पा स्व-काल छिप जावे,
देह-धारियोंका तनु त्यों यह, उपजे औ' नश जावे।
इससे पाकर जो स्वकाल निज इष्ट स्वजन मर जावे,
उसपर शोक करे को भविजन ? जो सुबुद्ध कहलावे॥

वृक्षों पर उग कर झड़ पड़ते, पत्र-फूल-फल जैसे,
जन्म कुलोंमें लेकर प्राणी, मरण लहें हैं तैसे।
यह विधि-नियम अखंडित लख बुध, हर्ष शोक क्या कीजे ?
वस्तुस्वरूप विचार हृदयमें, समता-भाव धरीजे॥

दुर्निवार-भावी-वश अपना प्रियजन मरण करे जो,
अन्धकारमें नृत्य करे वह उस पर शोक करे जो।
सन्मतिसे सब वस्तु जगतमें नाशवन्त लख भाई !
सब दुख-संतति-नाशक सेवो धर्म सदा मन लाई॥

पूर्व-कर्मने जिस प्राणीका अन्त लिखा जब भाई !
उसका अन्त तभी होता है, यह निश्चय उर लाई।
छोड़ शोक मरने पर प्रियके, सादर धर्म करीजे,
दूर निकल जब गया सर्प तब लीक पीट क्या कीजे ?

दुख-नाशनको मूढ जगतमें रुदन-कर्म विस्तारें,
वह दुख दूर न हो स्वकर्मवश, नहिं वे सुख निर्धारें।
उन मूढोंको मूढ-शिरोमणि हम निश्चित ही मानें,
पाप और दुख-हेतु शोकको स्वजन मरे जो ठानें॥

नहिं जाने क्या नाहिं सुने तू! नहिं क्या सन्मुख देखे?
'कदलीवत् निःसार जगत सब इन्द्रजाल हो जैसे'।
इष्ट-मरणपर शोक करे क्या? मनुजाकार पशू रे!
नित्य-परम-सुख पावे जिससे, वह कुछ तो कर तू रे॥

जो जनमा वह नियत मरे है, मृत्यु-दिवस जब आवे,
तीन भुवनमें भी तब उसका रक्षक कोइ न पावे।
इससे जो प्रियजनके मरते शोक करें अधिकाहीं,
कर पुकार वे रुदन करें हैं, मूढ विजन-वन-माहीं॥

इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग जो जगमें होते जानो,
पूर्व पापके फल हैं दोनों, यह चेतन! उर आनो।
शोक करे किस हेतु? नाश कर पाप, वृथा मत रोवे,
इष्ट-वियोग-अनिष्ट-योगका जन्म न जिससे होवे॥

इष्ट-वस्तुके नष्ट हुए भी शोक अहो! तब कीजे,
यदि हो उसका लाभ, सुयश, सुख अथवा धर्म लहीजे।
चारोंमेंसे एक भी न जो वह प्रयत्न कर होवे,
वृथा शोक-राक्षस-वश हो तब कौन सुधी सुख खोवे॥

एक वृक्ष पर आ पक्षी ज्यों करते रयन-बसेरा,
प्रातः उठ सब दश दिश जाते, उखड़ जात है डेरा।
त्यों कुलमें स्थिति कर बहु प्राणी, मर कर अन्य कुलनमें,
जा बसते, किस हेतु सुबुध तब शोक करें निज मनमें॥

जडता-तमसे व्याप्त जगत-वन, जहँ दुख-गज विचरें हैं,
दुर्गतिगेह-सहाइ-कुपथसे जहँ सब जीव भ्रमें हैं।
तहँ अति निर्मल-ज्ञान-प्रकाशक गुरुवच-दीप जगे है,
जिसको पाकर देख सुपथको, सुख-पद सुबुध लहे है॥

जो निजकर्म-रचित है भविजन! मरण-घड़ी जगमाहीं,
जीव उसीमें मरता निश्चित, आगे पीछे नाहीं।
तो भी मूरख ठान शोक अति, बहुदुखभागी हो है,
पाकर काल मरे यदि कोई, अपना प्रियजन जो है॥

तरुसे तरु पर पक्षी, मधुकर ज्यों पुष्पों पर जावें,
त्योंहि जीव भव छोड़ अन्य भव इस जगमें अपनावें।
इस विध जीवोंकी अस्थिरता जान सुबुध-जन जो हैं,
जन्मत-मरते स्वजनादिकके हर्ष न शोक करें हैं॥

भ्रमते काल अनन्त जगतमें, जीव न नर-भव पावे,
यदि पावे भी तो दुष्कुलमें, अघसे फिर नश जावे।
सत्कुलमें आ गर्भहिं विनशे, लेते जनम मरे वा,
बचपनमें विनशे, तब वृष पा, क्यों तहँ यत्न करे ना?॥

थिर सतरूप सदा जग भी यह उपजे विनशे ऐसे,
पर्यायान्तर कर क्षण-क्षणमें जलद-पटल हो जैसे।
इससे जगमें जन्मत-मरते इष्टजनोंके प्यारो!
हर्ष किये क्या? अहो शोक कर, क्या है साध्य? विचारो॥

सागर-पर्वत-देश-नदोंको मनुज लाँघ कर जावें,
मरण-घड़ीको पलक-मात्र भी देव न लँघने पावें।
इससे किसहि स्वजनके मरते श्रेय त्याग सुखकारी,
सदा घोर दुख-दाह-शोकको कौन करे मतिधारी?॥

स्वजन मरे पर जगमें मानव-गण जो अति बिललावें,
जन्मे मोद करें तिहिं गणधर बातुलता बतलावें।
कारण, जड़ता-दुश्चेष्टार्जित-कर्म-प्रबन्ध-उदयसे,
जन्म-मरण-परिपाटी-मय है यह सब जगत सदासे॥

बड़ी भ्रान्ति यह जग-जीवोंकी, अथवा जडता मानें,
बहुदुख-जाल-जटिल-जगमें बस, आपदि शोक जु ठानें।
भूत-प्रेत-चिति[1]-फेरु[2]-अमंगल—पूरित मरघट-माहीं—
करके घर, भयदाइ वस्तुसे को शंके मन-माहीं?॥

नभ-मण्डलमें चन्द्र भ्रमे ज्यों, त्यों जगमें नित प्राणी,
उदय-अस्त-गति पावे त्यों ही हानी वृद्धि बखानी।
एक राशिसे अन्य राशिको, गमन करे शशि जैसे,
तनु तज तनु धारे कलुषित-जिय, हर्ष-शोक फिर कैसे?॥

---

१ चिता। २ शृगाल।

विद्युत्सम क्षणभंगुर हैं सुत-दारादिक सब जानें,
नशते उनके खेद करें क्या ? जो नर चतुर सयाने।
उपजन-विनशन-थितिधारण यह शील[1] सभी द्रव्योंका,
अग्नि-शील ज्यों उष्णपना है, नहिं इसमें कहुं धोका॥

मृत्यु-शोकसे इष्टजनोंके, उपजे कर्म असाता,
फिर उसकी शत-शाखा फैलें, देहीमें दुखदाता।
छोटासा वट-बीज खेतमें बोया ज्यों भविप्राणी!
बहु-विस्तार धरे त्यों, यह लख, शोक तजो अघखानी[2]॥

क्षण-क्षणमें जो आयू छीजे वह यम-मुख सब जानें,
उसमें गत सब जीव, एक फिर, अन्य-शोक क्यों ठाने?
जो यम-गोचर है न जगतमें, हुआ न कब ही होवे।
वह ही शोभे मृतक-शोक कर, अन्य वृथा ही रोवे॥

पहले ऊंचा चढ़कर दिनकर अपना तेज प्रकासे,
उस ही दिन फिर नीचे उतरे, स्वीय पतन अवभासे।
यह लख कौन मनुज हैं जिनके उरमें शोक बसे है?
पर्यायोंकी पलटन होते, सकल विवेक नसे है॥

शशि सूरज औ' पवन खगादिक नभमें ही विचरें हैं,
गाड़ी घोड़ा आदिक थलचर भूपर गमन करें हैं।
मीनादिक जलमें हि चलें, यम सर्व ठौर विचरे है,
मुक्ति-बिना किस थान जीवके रक्षा-यत्न सरे है?॥

---

१ स्वभाव। २ पाप की खानि।

कर्म-उदयके सन्मुख क्या हैं देवि-देवता भाई ?
वैद्य-मन्त्र-औषध क्या कर हैं मणि-विद्या-चतुराई ?
त्यों हैं मित्र-नृपादिक-आश्रय तीन लोकके माहीं,
ये सब मिलकर भी कर्मोदय टारन समरथ नाहीं ॥

अणिमादिक ऋद्धी-धारक क्यों देव समर्थ बखानें ?
ध्वस्त हुए जब वे रावणसे, तिहि बल भी क्या मानें ?
राम मनुजने जिसको मारा, लाँघ अम्बुराशीको,
हुआ राम भी वह यम-गोचर, विधिसे अन्य बली को ?

व्याप रहा है शोक-दवानल इस भव-वनके माहीं,
मूढलोक-मृग नारि-मृगीमें लीन वहीं निवसाहीं।
काल-व्याध निर्दयी सदा पा, सन्मुख इन सबको ही,
मारे, नहिं शिशु-तरुण-वृद्ध भी उससे बचता कोई ॥

लक्ष्मी-चारुलता-युत वनिता-वल्ल्यालिंगित जानो,
पुत्रादिक-प्रिय-पत्र तथा रति-सुख-फल-सहित प्रमानो।
यों उपजा भव-वनमें जन-तरु, काल-दवानलसे जो-
व्याप्त न हो तो अन्य और क्या बुधजन अवलोकें जो ॥

वाँछें हैं सुख मनुज जगतमें, कर्म दिया पर पावें,
मरण अवश्य लहें हैं तो भी, उससे सब भय खावें।
यों इच्छा-भय-लीन-चित्त हो, व्यर्थ मोहवश प्राणी-
दुःख-लहर-युत भव-समुद्रमें, पड़ें कुमति-अगवानी ॥

इन्द्रिय-सुख-जलमें क्रीड़त नित, जगत-सरोवर-माहीं,
यम-धीवर-कर-प्रसरित चमके, जरा-जाल जहँ भाई !
उसमें फँसकर लोकरूप यह दीन-मीन-समुदाई,
निकट-प्राप्त भी घोर आपदाओंको देखत नाहीं ॥

सुन गत-जीवोंको यम-गोचर, लख बहुतोंको जाते,
आत्म-स्थिरता मानें जो नर, वे मोही कहलाते।
वृद्धावस्था प्राप्त हुए भी, जो न धर्म चित लावें,
अधिक अधिक वे पुत्रादिक-बन्धनसे आत्म बँधावें ॥

निबल-सन्धि-बन्धनयुत तनु अघकर्म-शिल्पि-निर्मित जो,
मल-दोषादि-भरा औ' नश्वर विनशत बार न जिसको।
आधि-व्याधि-जर-मरणादिक यदि हों तो चित्र यहाँ को ?
अचरज है बुधजन भी तनुमें अवलोकें स्थिरताको ! ॥

सागरान्त-भू भोगी, वाँछित लक्ष्मी जगमें पाई,
पाये वे रमणीय विषय हैं, सुर-दुर्लभ जो भाई !
पर पीछे आवेगी मृत्यू, इससे वे सब प्यारो !
विष-मिश्रित-भोजन-सम धिक् हैं, मुक्ति-मार्ग अवधारो ॥

रणमें तब तक समरथ रथ-गज, अश्व-वीर गर्वी हैं,
मंत्र पराक्रम खड्ग तभी तक साधक कार्य सभी हैं।
जब तक भूखा भक्षण-इच्छुक निर्दय काल जु मानो,
होकर कुपित न दौड़े सन्मुख, पूर्व यत्न बुध ! ठानो ॥

राजा भी क्षणमें विधि-वशसे, अवश रंक हो जावे,
सर्व-व्याधिसे रहित तरुण भी, शीघ्र नाशको पावे।
औरोंसे क्या ? साररूप जो, धन जीवन दो जानो,
उनकी ऐसी थिति जगमें, बुध! तब किसमें मद ठानो ॥

मुट्ठीसे वह नभ हनता या शुष्क नदी तिरता है,
व्याकुल मत्त–तृपातुर हो वा, मरु-मरीचि पीता है।
ऊँचे पर्वत-शिखर पवनसे कम्पित-दीप-समानी,
धन-कान्ता-सुत-आदिकमें मद कर नर जो है मानी ॥

व्याध-मृगी चपला-लक्ष्मीको भूपति-मृग अपनाई,
मारें अन्य सुतादि मृगोंको, रुपसे ईर्षा लाई।
आपद्-धनुप-भयंकर-सज्जित और तीर ताने जो,
कुपितरूप सन्मुख आया भी, काल-व्याध न लखें वो ॥

मोही होकर इष्टमरण पर शोक करे जो प्राणी,
लाभ न उसको रंचमात्र, पर विपुल सहे वह हानी।
दुःख बढ़े, धर्मादि नशें औ' मति-विभ्रम हो जावे,
पाप-रोग-कुमरण पुन दुर्गति, जो जग-भ्रमण करावे ॥

यह जग है सब दुःख-सदन, जब यहाँ बसेरा ठाना,
दुःखोंसे किस हेतु सुजन! तब चित अपना अकुलाना?
जो अपना घर बाँध रहे नर चौराहेके माहीं,
पर-लँघन-भयसे तब कैसे वह शंके मन-माहीं? ॥

क्या उसको वातूल कहें या, भूताविष्ट बखानें ?
भ्रान्तचित्त क्या उसको जानें, वा उन्मत्त प्रमानें ?
जीवनादिको विद्युत्सम चल, जो देखे औ' जाने,
कानोंसे पुन नित सुनता है, तोहु न निजहित ठाने।

'हा! मैं इसको औषध नहिं दी, मंत्रिकको न दिखाया!'
इस विध शोक न करना बुधजन! स्वजन तजे जब काया।
कारण, काल-समीप मनुजके शिथिल यत्न सब होवें,
जल-सिंचित ज्यों चर्म-विनिर्मित, बन्धन ढीले होवें॥

कालादिक पा तेजयुक्त जो कर्मसिंह बलधारी,
उससे पकड़ा शरणरहित भव-वनमें जन अविचारी।
'मेरी भार्या, मेरा धन-गृह, मेरा सुत-परिवारा,'
अज-सुत-सम यों 'मे मे' करता मरण लहे बेचारा॥

यमसे अतिशय पीडित अपनी आयु सभी जन जानो,
दिन हैं गुरुतर खंड उसीके, यह निश्चय उर आनो।
उनको नित निज सन्मुख खिरते लखकर भी जो प्राणी,
अपनेको स्थिर मान रहा है, वह क्यों नहिं अज्ञानी?॥

इन्द्र-चन्द्र-आदिक भी निश्चय काल-गाल जब जावें,
निर्बल-जन अल्पायु-कीट-समकी क्या बात बतावें ?
इससे स्वजन-मरण पर भविजन! मोह वृथा मत कीजे।
काल न तनुमें खेले जिससे, शीघ्र आत्म लख लीजे॥

जो संयोग वियोग-सहित वह, जन्म मृत्यु-युत मानो,
संपत विपदासे, सुख दुखसे, निश्चय व्याप्त सुजानो।
वार वार गति-जाति-अवस्था, धर वहु विध जग-माहीं-
जीव नचें, नहिं हर्ष-शोक तव, कबहुँ सन्त-मन-माहीं॥

अपने हितकी चिन्ता निशदिन लोक करें मन-माहीं,
पर भावी-अनुसार होय सब, इसमें संशय नाहीं।
इससे फैले तीव्र-मोह-वश बहुविकल्पके त्यागी,
राग-द्वेष-विष-रहित सदा सुखमें तिष्ठें वड़-भागी॥

भविजन! यह घर नारी सुत औ' जीवन आदिक जानो,
पवन-प्रताडित-ध्वजा-वस्त्र-सम, चंचल सकल वखानो।
छोड़ धनादिक-मित्रोंमें यह मोह महा-दुखदाई।
'जुगल' धर्ममें प्रीति करो अब, अधिक कहें क्या भाई॥

पद्मनन्दि-मुनि-मुख-जलधरसे उपजी बुध-हितकारी,
पुत्र - मित्र - भार्यादि - शोक-आताप-मिटावनहारी।
अमृतवृष्टि, सुबोध-धान्यकी 'जुगल' जन्म-दातारी,
जयवन्ती वर्तो जगमें यह, अथिर-भावना प्यारी॥

आलोचना और प्रार्थना

१

प्रभो ! रागादिक दोष निवार, धरूँ मैं समता-भाव उदार ।
यही तव पूजा उन्नति-कार, यही तव गुण-कीर्तनका सार ॥

२

आप-सा नेता पा अविकार, मार्ग पर लगा न संयम धार ।
रुला जगमें यों होकर ख़्वार, मुझे धिक्कार ! मुझे धिक्कार !!

३

तुच्छ सम्पत पा, यह हुंकार, क्षणिक बल पा, यह अत्याचार !
ज्ञानको पाकर धरा विकार, मुझे धिक्कार ! मुझे धिक्कार !!

४

अज्ञता-वश कीने बहु पाप, मोह-वश किये अनेक विलाप ।
सहे दुख भारी औ' उत्ताप, जपा नहिं भाव-पूर्ण तव जाप ॥

५

भूल-वश भटका सब संसार, न पाई शान्ति-सुधाकी धार ।
लखी नहीं अन्तर्ज्योति अपार, सुधा बरसाती जो अनिवार ॥

६

मुश्क रहता निज-नाभि-मँझार, विपिनमें खोजे हिरण गँवार ।
त्योंहि मुझमें निज-सुख-भँडार, खोज पर-द्रव्योंमें बेकार ॥

७

वीर ! उस रुचिका हो विस्तार, लखूँ निज गुप्त-शक्ति-भंडार ।
लहूँ निजमें सन्तोष अपार, मिटे भव-भ्रमण महा-दुखकार ॥

सत्कामना

१

परमागमका बीज जो, जैनागमका प्राण।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत्-कल्याण॥

२

'अनेकान्त'-रवि-किरणसे, तम-अज्ञान-विनाश।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश॥

३

कुनय-कदाग्रह ना रहे, रहे न मिथ्याचार।
तेज देख भागें सभी, दम्भी-शठ-बटमार॥

४

सूख जाँय दुर्गुण सकल, पोषण मिले अपार–
सद्भावोंको लोकमें, बने सुखी संसार॥

५

शोधन-मथन विरोधका, हुआ करे अविराम।
प्रेम-पगे रल-मिल सभी, करें कर्म निष्काम॥

: ३ :

सम्बोधन-खण्ड

जैन-सम्बोधन

१

जैनियों ! धुनमें किधर हो, क्या खबर कुछ भी नहीं ?
हो रहा संसारमें क्या, ध्यान कुछ इस पर नहीं ।
म्लेच्छ और अनार्य जिनका, तुम बताते थे कभी;
देखलो, किस रंगमें हैं, आज वे मानव सभी ॥

२

और अपनी भी अवस्थाका मिलान करो जरा,
पूर्व थी वह क्या ? हुई अब क्या ? विचार करो ज़रा ।
है कहाँ वह ज्ञान-गौरव, राज्य-वैभव आपका ?
वह कहाँ बहुऋद्ध्यलंकृत तप विनाशक पापका ॥

३

वृष अहिंसा आपका वह, उठ गया किस लोकमें ?
प्रेम पावन आपका सब, जा बसा किस थोकमें ?
है कहाँ वह सत्यता - मृदुता - सरलता आपकी ?
वह दयामय-दृष्टि और परार्थ-परता सात्विकी ?

४

पूर्वजोंके धैर्य - शौर्यौदार्य - गुण तुममें कहाँ ?
है कहाँ वह वीरता, निर्भीकता, साहस महा ?
बाहुबलको क्या हुआ ? रणरंग-कौशल है कहाँ ?
हो कहाँ स्वाधीनता, दौर्बल्य-शासन हो जहाँ ?

५

वे विमान कहाँ गए ? कुछ याद है उनकी कथा ?
बैठ जिनमें पूर्वजोंको गगन-पथ भी सुगम था।
है कहाँ निर्वाह प्रणका ? और वह दृढता कहाँ ?
शीलता जाती रही, दुःशीलता फैली यहाँ !!

६

उठ गई सब तत्त्व-चर्चा, क्या प्रकृति बदली सभी !
स्वप्न भी निज अभ्युदयका, जो नहीं आता कभी !
खो गया गुण-ग्राम सारा, धर्म-धन सब लुट गया !
आँख तो खोलो जरा, देखो सबेरा हो गया !!

७

धर्म-विष्टर पर विराजीं रूढ़ियाँ आकर यहाँ,
धर्मके ही वेषमें जो कर रहीं शासन महा।
थीं बनाई तुम्हींने ये, निज सुभीतेके लिए।
बन गए पर अब तुम्हीं इनकी गुलामीके लिए॥

८

देखिये, मैदाने उन्नतिमें कुलाँचें भर रहे,
कौन हैं, निज तेजसे विस्मित सबोंको कर रहे ?
नव-नवाविष्कार प्रतिदिन, कौन कर दिखला रहे ?
देव-दुष्कर कार्य विद्युत्-शक्तिसे करवा रहे ?॥

९

हो रहा गुण-गान किनके, यह कला-कौशल्यका ?
बज रहा है दुन्दुभी, विज्ञान-साहस-शौर्यका ?
कौन हैं ये बन रहे विद्या-विशारद आजकल ?
नीतिविद्, सत्कर्म-शिक्षक, पथ-प्रदर्शक आजकल ?

१०

सोचिये, ये हैं वही, कहते जिन्हें तुम नीच थे,
धर्मशून्य असभ्य कहकर आप बनते ऊँच थे।
सद्विचाराचारके जो पात्र भी न गिने गये,
नहा डाला उसी दम यदि कभी इनसे छू गये ॥

११

अनवरत उद्योगसे औ' आत्मबल - विस्तारसे,
अभ्युदय इनका हुआ है, प्रबल ऐक्य-विचारसे।
स्वावलम्बनसे इन्हें जो सफलता अनुपम मिली,
शोक ! उसको देख कर भी सीख तुमने कुछ न ली ॥

१२

आत्म-बल गौरव गँवाया, तुमने शिथिलाचारमें,
फँस गये हो बेतरह इस जाति-भेद-विचारमें।
साथ ही, अपरीतियों का जाल है भारी पड़ा,
हो रहा है कर्म-बन्धनसे भी यह बन्धन कड़ा ॥

१३

तोड़ यह बन्धन सकल, स्वातंत्र्य-बल दिखलाइये,
लुप्त गौरव जो हुआ, उसको पुनः प्रकटाइये।
पूर्वजोंकी कीर्तिको बट्टा लगाना क्या भला,
सच तो यों है, डूब मरना ऐसे जीवनसे भला ॥

१४

जातियाँ, अपनी समुन्नति-हेतु, सब चंचल हुईं,
पर न आया जोश तुममें क्या रगें ठिठरा गईं ?
पुरुष हो पुरुपार्थ करना क्या तुम्हें आता नहीं ?
पुरुप-मन पुरुपार्थसे, हरगिज़ न घबराना कहीं ॥

१५

जो न आता हो तुम्हें, वह दूसरोंसे सीख लो,
अनुकरण कहते किसे, जापानियोंसे सीख लो।
देखकर इतिहास जगके, कुछ करो शिक्षा ग्रहण,
हो न जिससे व्यर्थ ही संसारमें जीवन-मरण ॥

१६

छोड़दो संकीर्णता, समुदारता धारण करो,
पूर्वजोंका स्मरण कर, कर्तव्यका पालन करो।
आत्मबल पर जैन वीरों ! हो खड़े बढ़ते रहो,
हो न ले उद्धार जब तक, 'युग-प्रताप' बने रहो ॥

समाज-सम्बोधन

१

दुर्भाग्य जैनसमाज ! तेरी क्या दशा यह हो गई !
कुछ भी नहीं अवशेष, गुण-गरिमा सभी तो खो गई !
शिक्षा उठी, दीक्षा उठी, विद्याऽभिरुचि जाती रही !
अज्ञान - दुर्व्यसनादिसे मरणोन्मुखी काया हुई !!

२

वह सत्यता, समुदारता तुझमें नजर पड़ती नहीं !
दृढता नहीं, क्षमता नहीं, कृतविज्ञता कुछ भी नहीं !
सब धर्म-निष्ठा उठ गई, कुछ स्वाभिमान रहा नहीं !
भुजबल नहीं, तपबल नहीं, पौरुष नहीं, साहस नहीं !!

३

क्या पूर्वजोंका रक्त अब तेरी नसोंमें है कहीं ?
सब लुप्त होता देख गौरव, जोश जो खाता नहीं ।
ठंडा हुआ उत्साह सारा, आत्मबल जाता रहा,
उत्थानकी चर्चा नहीं अब पतन ही भाता रहा !!

४

पूर्वज हमारे कौन थे ? वे कृत्य क्या क्या कर गये ?
किन किन उपायोंसे कठिन भव-सिंधुको भी तर गये ?
रखते थे कितना प्रेम वे निजधर्म-देश-समाजसे ?
पर-हितमें क्यों संलग्न थे, मतलब न था कुछ स्वार्थसे ?

५

क्या तत्त्व खोजा था उन्होंने, आत्म-जीवन के लिए ?
किस मार्ग पर चलते थे वे, अपनी समुन्नतिके लिए ?
इत्यादि बातोंका नहीं तव व्यक्तियोंको ध्यान है !
वे मोह-निद्रामें पड़े, उनको न अपना ज्ञान है !!

६

सर्वस्व यों खो कर हुआ, तू दीन-हीन-अनाथ है।
कैसा पतन तेरा हुआ, तू रूढियोंका दास है।
ये प्राणहारि-पिशाचिनी, क्यों जालमें इनके फँसा ?
ले पिण्ड तू इनसे छुड़ा, यदि चाहता अब भी जिया ॥

७

जिस आत्म-बलको तू भुला बैठा उसे रख ज्ञानमें,
क्या शक्तिशाली ऐक्य है, यह भी सदा रख ध्यानमें।
निज-पूर्वजोंका स्मरण कर, कर्तव्य पर आरूढ हो,
बन स्वावलम्बी, गुण-ग्राहक, कष्टमें न अधीर हो ॥

८

सद्दृष्टि-ज्ञान-चरित्रका सुप्रचार हो जगमें सदा,
यह धर्म है, उद्देश्य है, इससे न विचलित हो कदा।
'युग-वीर' बन यदि स्व-पर-हितमें लीन तू हो जायगा,
तो याद रख, सब दुःख-संकट शीघ्र ही मिट जायगा ॥

वर-सम्बोधन

१

वर बने, वर! हो तुम आज क्या? प्रबल उत्सुक हो उस अर्थ या?
सँभलना जिस मार्ग चले अभी, फिसलना जिससे नहिं हो कभी।

२

कठिन-दुर्गम मार्ग गृहस्थका, निबलके वसका, न अस्वस्थका।
न करमें यदि दीपक ज्ञानका, गमन क्योंकर हो अनजानका॥

३

मनन पूर्व करो इस बातका विहित क्या शुभ लक्ष्य विवाहका।
तदनु शक्ति लखो निज कायकी, हृदयकी धनकी व्यवसायकी॥

४

यदि तुम्हें अनुकूल जँचें सभी, कर विवाह, गृहस्थ बनो तभी।
सतत यत्न करो उसके लिये, दृढ-प्रतिज्ञ बने जिसके लिये॥

५

निबल मूर्ख न सन्तति जन्म दो, प्रकृतिके प्रतिकूल न कर्म हो।
दुरुपयोग न हो निज-शक्तिका, सदुपयोग रहे अनुरक्तिका॥

६

न कुल-देश-कलंक बनो कभी, न यश-कीर्ति कलंकित हो कभी।
समयके अनुकूल प्रवृत्ति हो, पठन-पाठनसे न विरक्ति हो॥

७

सुदृढ धैर्य कभी नहिं भंग हो, अलसता न रहे, न कुसंग हो।
बन उदार समुद्यम-लीन हो, जगतके हितसे न विहीन हो॥

८

अटल लक्ष्य रहे इनमें सदा, 'युग-प्रताप' न चालित हो कदा।
धरमकी धनकी नहिं हानि हो, सफल यों स्वगृहस्थ-विधान हो॥

विधवा-सम्बोधन

(विधवा-कर्तव्य-सूत्र)

१

विधवा बहन! समझ नहिं पड़ता, क्यों उदास हो बैठी हो,
क्यों कर्तव्य-विहीन हुई तुम, निजानन्द खो बैठी हो!
कहाँ गई वह कान्ति-लालिमा, खोई चंचलताई है,
सब प्रकारसे निरुत्साहकी, छाया तुम पर छाई है!!

२

अंगोपांग न विकल हुए कुछ, तनुमें रोग न व्यापा है,
और शिथिलता लानेवाला आया नहीं बुढ़ापा है।
मुरझाया पर वदन, न दिखती जीनेकी अभिलाषा है,
गहरी आहें निकल रही हैं मुँहसे, घोर निराशा है!!

३

हुआ हाल ऐसा क्यों भगिनी! कौन विचार समाया है,
जिसने करके विकल हृदयको, 'आपा' आप भुलाया है?
निज-परका नहिं ज्ञान, सदा अपध्यान हृदयमें छाया है,
भय न भटकनेका भव-वनमें, क्या अन्धेर मचाया है!!

४

शोकी होना स्वात्म-क्षेत्रमें पाप-बीजका बोना है,
जिसका फल अनेक दुःखोंका संगम आगे होना है।
शोक किये क्या लाभ? व्यर्थ ही अकर्मण्य बन जाना है,
आत्म-लाभसे वंचित होकर, फिर पीछे पछताना है॥

५

योग अनिष्ट, वियोग इष्टका, अघ-तरु दो फल लाता है,
फल नहिं खाना वृक्ष जलाना, इह-पर-भव सुखदाता है।
इससे पति-वियोगमें दुख कर, भला न पाप कमाना है,
किन्तु स्व-पर-हितसाधनमें ही उत्तम योग लगाना है॥

६

आत्मोन्नतिमें यत्न श्रेष्ठ है, जिस विधि हो उसको करना,
उसके लिए लोकलज्जा - अपमनादिकसे नहिं डरना।
जो स्वतंत्रता-लाभ हुआ है, दैव-योगसे सुखकारी,
दुरुपयोग कर उसे न खोओ, खोने पर होगी ख़्वारी॥

७

माना हमने, हुआ हो रहा तुम पर अत्याचार बड़ा,
साथ तुम्हारे पंचजनोंका होता है व्यवहार कड़ा।
पर तुमने इसके विरोधमें किया न जब प्रतिरोध खड़ा,
तब क्या स्वत्व भुला कर तुमने किया नहीं अपराध बड़ा?

८

स्वार्थ-साधु नहिं दया करेंगे, उनसे दयाऽभिलाशाको
छोड़, स्वावलम्बिनी बनो तुम पूर्ण करो निज आशाको।
सावधान हो स्वबल बढ़ाओ, निजसमाज-उत्थान करो,
'दैव दुर्बलोंका घातक' इस नीति-वाक्य पर ध्यान धरो।

९

बिना-भावके बाह्य-क्रियासे धर्म नहिं बन आता है,
रक्खो सदा ध्यानमें इसको, यह आगम बतलाता है।
भाव - बिना जो व्रत-नियमादिक करके ढोंग बनाता है,
आत्म-पतित होकर वह मानव ठग-दम्भी कहलाता है॥

१०

इससे लोक-दिखावा करके, धर्म-स्वांग तुम मत धरना,
सरल-चित्तसे जो बन आए भाव-सहित सो ही करना।
प्रबल न होने पायें कषायें, लक्ष्य सदा इस पर रखना,
स्वार्थ-त्यागके पुण्य-पन्थ पर प्रेमसहित निशदिन चलना ॥

११

क्षणभंगुर सब ठाट जगतके, इन पर मत मोहित होना,
काया-मायाके धोखेमें पड़, अचेत हो नहिं सोना।
दुर्लभ मनुज-जन्मको पाकर, निजकर्तव्य समझ लेना,
उसके ही पालनमें तत्पर रह प्रमादको तज देना ॥

१२

दीन - दुखी - जीवोंकी सेवा करनी सीखो हितकारी,
दीनावस्था दूर तुम्हारी हो जाए जिससे सारी।
दे करके अवलम्ब उठाओ निर्बल - जीवोंको प्यारी,
इससे वृद्धि तुम्हारे बलकी निःसंशय होगी भारी ॥

१३

हो विवेक जागृत भारतमें, इसका यत्न महान करो,
अज्ञ-जगतको उसके दुख-दारिद्र्य-आदिका ज्ञान करो।
फैलाओ सत्कर्म जगतमें, सबको दिलसे प्यार करो,
बने जहाँ तक इस जीवनमें औरोंका उपकार करो ॥

१४

'युग-वीरा' बनकर स्वदेशका फिरसे तुम उत्थान करो,
मैत्री-भाव सभीसे रख कर, गुणियोंका सम्मान करो।
उन्नत होगा आत्म तुम्हारा इन ही सकल उपायोंसे,
शान्ति मिलेगी, दुःख टलेगा, छूटोगी विपदाओंसे ॥

धनिक-सम्बोधन

१

भारतके धनिकों ! किस धुनमें, पड़े हुए हो तुम बेकार ?
अपने हितकी खबर नहीं, या नहीं समझते जग-व्यवहार ?
अन्धकार कितना स्वदेशमें छाया देखो आँख उघार,
बिलबिलाट करते हैं कितने, सहते निशदिन कष्ट अपार ?

२

कितने वस्त्रहीन फिरते हैं, क्षुत्पीड़ित हैं कितने हाय !
धर्म-कर्म सब बेच-दिया है कितनोंने होकर असहाय !
जो भारत था गुरु देशोंका महामान्य सत्कर्म-प्रधान,
गौरव-हीन हुआ वह बनकर पराधीन, सहता अपमान ॥

३

क्या यह दशा देख भारतकी, तुम्हें न आता सोच-विचार ?
देखा करो इसी विधि क्या तुम, पड़े पड़े दुख-पारावार ?
धनिक हुए जिसके धनसे क्या योग्य न पूछो उसकी बात !
गोद पले जिसकी क्या उस पर देखोगे होते उत्पात !!

४

भारतवर्ष तुम्हारा, तुमहो भारतके सत्पुत्र उदार,
फिर क्यों देश-विपत्ति न हरते, करते इसका बेड़ा पार ?
पश्चिमके धनिकोंको देखो, करते हैं वे क्या दिन रात,
और करो जापान देशके धनिकों पर कुछ दृष्टि-निपात ॥

५

लेकर उनसे सबक स्वधनका करो देश-उन्नति-हित त्याग,
दो प्रोत्साहन उन्हें जिन्हें है देशोन्नतिसे कुछ अनुराग।
शिल्पकला-विज्ञान सीखने युवकोंको भेजा परदेश,
कला-सुशिक्षालय खुलवाकर मेटो सब जनताके क्लेश ॥

६

कार्य-कुशल-विद्वानोंसे रख प्रेम, समझ उनका व्यवहार,
उनके द्वारा करो देशमें बहु - उपयोगी कार्य - प्रसार।
भारत-हित संस्थाएँ खोलो ग्राम-ग्राममें कर सुविचार,
करो सुलभ साधन वे जिनसे उन्नत हो अपना व्यापार ॥

७

चक्करमें विलास-प्रियताके फँस, मत भूलो अपना देश,
प्रचुर-विदेशी व्यवहारोंसे करो न अपना देश विदेश।
लोक-दिखावेके कामोंमें, होने दो नहिं शक्ति-विनाश,
व्यर्थ-व्ययोंको छोड़, लगो तुम भारतका करने सुविकाश ॥

८

वैर-विरोध, पक्षपातादिक, ईर्ष्या - घृणा, सकल दुष्कार,
रह न सकें भारतमें ऐसा यत्न करो तुम बन समुदार।
शिक्षाका विस्तार करो यों, रहे न अनपढ़ कोई शेष,
सब पढ़-लिख कर चतुर बनें औ' समझें हित-अनहित सविशेष ॥

९

करें देश उत्थान सभी मिल, फिर स्वराज्य मिलना क्या दूर ?
पैदा हों 'युग-वीर' देशमें, तब क्यों रहे दशा दुख-पूर ?
प्रबल उठे उन्नति-तरंग तब, देखें सब भारत-उत्कर्ष,
धुल जावे सब दोष-कालिमा, सुख-पूर्वक दिन कटें सहर्ष ॥

अज-सम्बोधन

(वध्यभूमिको जाता हुआ बकरा)

१

हे अज ! क्यों विषण्ण-मुख हो तुम, किस चिन्ताने घेरा है ?
पैर न उठता देख तुम्हारा, खिन्न चित्त यह मेरा है !
देखो, पिछली टाँग पकड़ कर, तुमको वधक उठाता है !
और जोरसे चलनेको फिर, धक्का देता जाता है !!

२

कर देता है उलटा तुमको दो पैरोंसे खड़ा कभी !
दाँत पीस कर ऐंठ रहा है कान तुम्हारे कभी कभी !!
कभी तुम्हारी क्षीण-कुक्षिमें मुक्के खूब जमाता है !
अण्ड-कोषको खींच नीच यह फिर फिर तुम्हें चलाता है !!

३

सह कर भी यह घोर यातना, तुम नहिं कदम बढ़ाते हो,
कभी दुबकते, पीछे हटते, और ठहरते जाते हो !!
मानों सम्मुख खड़ा हुआ है सिंह तुम्हारे बलधारी,
आर्तनादसे पूर्ण तुम्हारी 'मे मे' है इस दम सारी !!

४

शायद तुमने समझ लिया है अब हम मारे जावेंगे,
इस दुर्बल औ' दीन-दशामें भी नहिं रहने पावेंगे !!
छाया जिससे शोक हृदयमें इस जगसे उठ जानेका,
इसी लिए है यत्न तुम्हारा, यह सब प्राण बचानेका !!

५

पर ऐसे क्या बच सकते हो, सोचो तो, है ध्यान कहाँ ?
तुम हो निबल, सबल यह घातक, निष्ठुर, करुणा-हीन महा ।
स्वार्थ-साधुता फैल रही है, न्याय तुम्हारे लिए नहीं,
रक्षक भक्षक हुए, कहो फिर, कौन सुने फरियाद कहीं !!

६

इससे बेहतर खुशी खुशी तुम वध्य-भूमिको जा करके,
वधक-छुरीके नीचे रख दो निज सिर, स्वयं झुका करके ।
'आह' भरो उस दम यह कहकर—"हो कोई अवतार नया,
महावीरके सदृश जगतमें, फैलावे सर्वत्र दया" ॥

: ४ :

सत्प्रेरणा-खण्ड

महावीर-सन्देश

यही है महावीर-सन्देश।
विपुलाचलपर दिया गया जो प्रमुख धर्म-उपदेश ॥ यही०॥

१

सब जीवोंको तुम अपनाओ, हर उनके दुख-क्लेश।
असद्भाव रक्खो न किसीसे, हो अरि क्यों न विशेष ॥ यही०

२

वैरीका उद्धार श्रेष्ठ है, कीजे सविधि-विशेष।
वैर छुटे, उपजे मति जिससे, वही यत्न यत्नेश ॥ यही०

३

घृणा पापसे हो, पापीसे नहीं कभी लव-लेश।
भूल सुझाकर प्रेम-मार्गसे, करो उसे पुण्येश ॥ यही०

४

तज एकान्त-कदाग्रह-दुर्गुण, बनो उदार विशेष।
रह प्रसन्नचित सदा, करो तुम मनन तत्त्व-उपदेश ॥ यही०

५

जीतो राग-द्वेष-भय-इन्द्रिय-मोह-कषाय अशेष।
धरो धैर्य, सम-चित्त रहो औ' सुख-दुखमें सविशेष ॥ यही०

६

अहंकार - ममकार तजो, जो अवनतिकार विशेष।
तप - संयममें रत हो, त्यागो तृष्णा-भाव अशेष॥ यही०

७

'वीर' उपासक बनो सत्यके, तज मिथ्याऽभिनिवेश[1]।
विपदाओंसे मत घबराओ, धरो न कोपाऽऽवेश॥ यही०

८

संज्ञानी - संदृष्टि बनो, औ' तजो भाव संक्लेश।
सदाचार[2] पालो दृढ होकर, रहे प्रमाद न लेश॥ यही०

९

सादा रहन - सहन - भोजन हो, सादा भूषा - वेष।
विश्व-प्रेम जागृत कर उरमें, करो कर्म निःशेष॥ यही०

१०

हो सबका कल्याण, भावना[3] ऐसी रहे हमेश।
दया-लोकसेवा-रत चित हो, और न कुछ आदेश॥ यही०

११

इस पर चलनेसे ही होगा विकसित स्वात्म - प्रदेश।
आत्म - ज्योति जगेगी ऐसे जैसे उदित दिनेश॥
यही है महावीर-सन्देश।

---

१ असत्याग्रह, मिथ्या परिणति, मिथ्यात्व। २ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचो व्रतोके अनुष्ठानको अथवा हिंसादिक पापो, कन्याविक्रयादि अन्यायो और मद्य-मासादिक अभक्ष्योके त्यागको 'सदाचार' कहते हैं। ३ इस कल्याण-भावनाके लिए लेखक-की लोकप्रसिद्ध 'मेरी भावना' का अवलम्बन लेना उत्तम होगा। हरएकको उसे मेरी (अपनी) भावना बनाना चाहिये।

मीन-संवाद

(जालमें मीन)

१

क्यों मीन ! क्या सोच रहा पड़ा तू ?
देखे नहीं मृत्यु समीप आई !
बोला तभी दुःख प्रकाशता वो—
"सोचूँ यही, क्या अपराध मेरा !

२

न मानवोंको कुछ कष्ट देता,
नहीं चुराता धन-धान्य कोई।
असत्य बोला नहिं मैं कभी भी,
कभी तकी ना वनिता पराई ॥

३

संतुष्ट था स्वल्प-विभूतिमें ही,
ईर्षा-घृणा थी नहिं पास मेरे।
नहीं दिखाता भय था किसीको,
नहीं जमाता अधिकार कोई ॥

४

विरोधकारी नहिं था किसीका,
निःशस्त्र था, दीन-अनाथ था मैं।
स्वच्छन्द था केलि करूँ नदीमें,
रोका मुझे जाल लगा वृथा ही !

५

खींचा, घसीटा, पटका यहाँ यों—
'मानो न मैं चेतन प्राणि कोई!
होता नहीं दुःख मुझे ज़रा भी!
हूँ काष्ठ-पाषाण-समान ऐसा ॥'

६

सुना करूँ था नर-धर्म ऐसा—
'हीनाऽपराधी नहिं दंड पाते।
न युद्ध होता अविरोधियोंसे,
न योग्य हैं वे वधके कहाते ॥

७

रक्षा करें वीर सुदुर्बलोंकी,
निःशस्त्रपै शस्त्र नहीं उठाते'।
बातें सभी झूठ लगें मुझे वो,
विरुद्ध दे दृश्य यहाँ दिखाई ॥

८

या तो विडाल-व्रत-ज्यों कथा है,
या यों कहो धर्म नहीं रहा है।
पृथ्वी हुई वीर-विहीन सारी,
स्वार्थान्धता फैल रही यहाँ वा ॥

९

बेगारको निन्द्य प्रथा कहें जो,
वे भी करें कार्य जघन्य ऐसे!
आश्चर्य होता यह देख भारी—
'अन्याय-शोकी अनिआय-कारी'!!

१०

कैसे भला वे स्व-अधीन होंगे ?
स्वराज्य लेंगे जगमें कभी भी ?
करें पराधीन, सता रहे जो,
हिंसा-व्रती होकर दूसरोंको !!

११

भला न होगा जगमें उन्होंका
बुरा विचारा जिनने किसीका !
न दुष्कृतोंसे कुछ भीत हैं जो,
सदा करें निर्दय कर्म ऐसे !!

१२

मैं क्या कहूँ और, कहा न जाता !
हैं कंठमें प्राण, न बोल आता !!
छुरी चलेगी कुछ देरमें ही !
स्वार्थी जनोंको कब तर्स आता !! "

१३

यों दिव्य-भाषा सुन मीनकी मैं,
धिक्कारने खूब लगा स्वसत्ता।
हुआ सशोकाऽऽकुल और चाहा,
देऊँ छुड़ा बन्ध किसी प्रकार !!

१४

पै मीनने अन्तिम श्वास खींचा !
मैं देखता हाय ! रहा खड़ा ही !!
गूँजी ध्वनी अम्बर-लोकमें यों-
'हा ! वीरका धर्म नहीं रहा है !! '

मानव-धर्म

१

मानव-धर्म मानवोंसे नहिं करना घृणा सिखाता है;
मनुज-मनुजको एक बताता, भाइ-भाईका नाता है।
असली जाति-भेद नहिं इनमें, गो-अश्वादि-जाति-जैसा;
शूद्र-ब्राह्मणीके संगमसे उपजे मनुज, भेद कैसा ?॥

२

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये भेद कहे व्यवहारिक हैं;
निज-निज कर्माश्रित, अस्थिर, नहिं ऊँच-नीचता-मूलक हैं।
सब हैं अंग समाज-देहके, क्या अन्त्यज, क्या आर्य महा;
क्या चाण्डाल-म्लेच्छ, सब ही का अन्योऽन्याश्रित कार्य कहा॥

३

सब हैं धर्मपात्र, सब ही हैं पौरिकताके अधिकारी;
धर्मादिक अधिकार न दे जो शूद्रोंको वह अविचारी।
शूद्र तिरस्कृत-पीड़ित हो निज कार्य छोड़ दें यदि सारा;
तो फिर जगमें कैसी बीते ? पंगु समाज बने सारा॥

४

गर्भवास औ' जन्म-समयमें कौन नहीं अस्पृश्य हुआ ?
कौन मलोंसे भरा नहीं ? किसने मल-मूत्र न साफ किया ?
किसे अछूत जन्मसे तब फिर कहना उचित बताते हो ?
तिरस्कार भंगी-चमारका करते क्यों न लजाते हो ?

५

जाति-कुमदसे गर्वित हो जो धार्मिकको ठुकराता है;
वह सचमुच आत्मीय-धर्मको ठुकराता न लजाता है।
क्योंकि धर्म धार्मिक-पुरुषोंके विना कहीं नहिं पाता है;
धार्मिकका अपमान इसीसे वृष-अपमान कहाता है॥

६

मानव-धर्मापेक्षिक सब हैं धर्मबन्धु अपने प्यारे;
अपनोंसे नहिं घृणा श्रेष्ठ है, हैं उद्धार-योग्य सारे।
अतः सुअवसर, सुविधाएँ सब उन्हें मुनासिब देना है;
इससे ही कल्याण उन्होंका औ' अपना भी होना है॥

७

बन करके 'युग-वीर' उठा दो रूढि-जनित-संस्कारोंका—
पर्दा हृदय-पटलसे अपने, ढा दो गढ़ हुंकारोंका।
तब होगा दर्शन सुसत्यका, मानवधर्म-पुण्यमयका;
जीवन सफल बनेगा तब ही, अनुगामी हो सत्पथका॥

उपालम्भ और आह्वान

(इन्द्रको उलाहना)

१

देवेन्द्र ! माहात्म्य अपूर्व तेरा,
तथैव सामर्थ्य अटूट तेरा।
सत्कीर्ति तेरी सुनते सुनाते,
शताब्दियाँ बीत गई यहाँ हैं ॥

२

किया यशोगान महा तुम्हारा,
पूजा करी अर्घ तुम्हें उतारा।
पड़े महा कष्ट तभी पुकारा,
आए नहीं हो पर एक वार !!

३

था प्रेम अत्यन्त तुम्हें यहाँका,
आते सदा थे तुम वार-वार।
दीनों-दरिद्रों-दुखिया जनोंकी,
सहायता खूब किया करो थे ॥

४

भारतका क्या ध्यान तुम्हें अब तक नहिं आया?
हुआ नहीं क्या ज्ञान, यहा दुख कैसा छाया?
विषयोंमें या लीन हुए, सब धर्म भुलाया?
नहीं रही पर्वाह किसी की, प्रेम नसाया?

५

अथवा तव सामर्थ्य आज सब हीन हुआ है ?
आज्ञामें नहिं देव, नष्ट ऐश्वर्य हुआ है ?
यदि इनमेंसे एक नहीं कारण ठहराओ,
तो फिर इतनी देर हुई किस हेतु बताओ ?

६

देखो, भारत आज दुःख दारुण सहता है,
सिसक-सिसक कर प्राण दिये अपने देता है !
दुष्टोंने असहाय समझ इसको बाँधा है,
इसका रक्त निकाल कार्य अपना साधा है !!

७

करुण-रुदनसे भी न तरस उनको आता है !
नहीं न्यायकी भीख यहाँ कोई पाता है !!
सुजनोंका घर जेल बना है आकर देखो !
सत्य, प्रेम औ' नीति-शान्ति सब दंडित देखो !!

८

महामना निष्पाप राष्ट्रहितु जगके प्यारे,
हिंसासे अति दूर, सौम्य, बहुपूज्य हमारे।
गाँधीसे नर-रत्न जेलमें ठेल दिये हैं,
क्या आशा वे धरें नहीं जो जेल गये हैं।।

९

ऋषियोंकी सन्तान हुई पद-दलित सभी है !
क्षात्र-तेज है लुप्त, उठी मर्याद सभी है !!
स्वाभिमान मृत हुआ, गंध नहिं उसकी आती !
प्रण-दृढता की बात सुनी देखी नहिं जाती !!

१०

तपोभूमियाँ शून्य पड़ीं, हा! देखो देखो!!
तीर्थ-भूमि अपवित्र हुई कैसी, यह लेखो!
गो-वध होता प्रचुर, नहीं अब रोक किसीकी!
होता अत्याचार घोर, नहिं टोक किसीकी!!

११

कर-भारोंसे पीठ देशकी लदी हुई है!
फिर भी पड़ती मार, होश सब उड़ी हुई है!!
मूर्छा आती कभी, कभी अँधियारी आती,
भूख सताती और वेदना मन घबराती॥

१२

यों विह्वल है देश हुआ पीड़ित अति भारी!
किं कर्तव्य विमूढ बना, सहता नित ख़्वारी!!
लख कर यह सब दृश्य, फटी जाती है छाती!
होता हृदय विदीर्ण, तुम्हें क्या दया न आती?

१३

हो करके सामर्थ्यवान, क्या देख रहे हो?
क्यों नहिं आते पास? वृथा क्या सोच रहे हो?
धर्म-पालना कठिन हुआ, अब देर करोगे—
तो तुम यह सब पाप-भार निज सीस धरोगे!!

१४

माना हमने भक्ति तुम्हारी नहीं रही है;
पर उसकी तो डोर तुम्हारे हाथ पड़ी है।
यदि तुम चाहो उसे, एक अतिशय दिखलाओ;
क्षणभरमें हों भक्त सभी, तुम पूजे जाओ!!

१५

यह भी माना धर्म-भावना नहीं रही है,
भारतमें दुर्गन्धि पापकी फैल गई है!
पर इससे क्या घृणा तुम्हें आनेमें होगी?
हो करके धर्मज्ञ, धर्मपालन-अनुरागी!!

१६

धार्मिकका कर्तव्य नहीं क्या धर्म चलाना?
पतितोंको अवलम्ब दान कर शीघ्र उठाना?
इससे क्यों फिर विमुख हुए तुम होकर दाना?
किया नहीं उद्धार धर्मका निज-मन-माना!!

१७

भारत तो तव तीर्थ-भूमि औ' पूज्य-सही है;
लीला-धाम मनोज्ञ तुम्हारे लिये कही है।
इसके ही सुप्रताप इन्द्रपद तुमने पाया;
तीर्थ-भक्ति क्या यही, इसे जो यों विसराया?

१८

हो समर्थ अन्याय सहन करता नहिं कोई,
तुम कहलाते 'शक्र', शक्ति क्या सारी खोई?
होते हैं उत्पात रात-दिन इस पर भारी;
तुम हो निष्क्रिय मौन, यही क्या नीति तुम्हारी?

१६

देखो, तव अस्तित्व आज सन्दिग्ध हुआ है,
चर्चा करते लोग, तुम्हारा भय न रहा है!
निज पदस्थका ध्यान अगर कुछ भी तुमको है—
तो तुम आओ शीघ्र, हरो भ्रम जो उनको है!!

२०

दिखला दो वह शक्ति पुराणोंमें जो गाई,
करो प्रकट वात्सल्य, छोड़ कर सब निठुराई!
भारत-तीर्थोद्धार तुम्हारे करसे होवे,
तो तुम पर जो लगा पंक वह सब धुल जावे!!

२१

इससे आओ शीघ्र यहाँ, अब देर न कीजे;
दुष्टोंको दे दंड, धर्मकी रक्षा कीजे।
कीजे ऐसा यत्न सभी नव-जीवन पावें,
बनकरके 'युग-वीर' पूर्व-गौरव प्रकटावें॥

जैनी कौन ?

१

कर्म-इन्द्रियोंको जीते जो, 'जिन' का परम उपासक जो।
हेयाऽऽदेय-विवेक-युक्त जो, लोक-हितैषी जैनी सो ॥

२

अनेकान्त-अनुयायी हो, स्याद्वाद्-नीतिसे वर्तें जो।
बाध-विरोध-निवारण समरथ, समता-युत हो जैनी सो ॥

३

परम अहिंसक, दया-दानमें तत्पर, सत्य-परायण जो।
धरे शील-सन्तोष अवंचक, नहीं कृतघ्नी जैनी सो ॥

४

नहिं आसक्त परिग्रहमें जो, ईर्षा-द्रोह न रखता हो।
न्याय-मार्गको कभी न तजता, सुख-दुखमें सम जैनी सो ॥

५

लोभ-जयी निर्भय निशल्य जो, अहंकारसे रीता जो।
सेवा-भावी गुण-ग्राही जो, विषय-विवर्जित जैनी सो ॥

६

राग-द्वेषके वशीभूत नहिं, दूर मोहसे रहता जो।
स्वात्म-ध्यानमें सावधान जो, रोष-रहित नित जैनी सो ॥

७

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण-मय, शान्ति-विधायि मुमुक्षुक जो।
मन-वच-काय-प्रवृत्ति एक हो जिसकी निश्चय जैनी सो॥

८

आत्म-ज्ञानी सद्ध्यानी जो, सुप्रसन्न गुण-पूजक जो।
नहिं हठग्राही शुची सदा संक्लेश-रहित-चित जैनी सो॥

९

परिषह-उपसर्गोंको जीते, धीर-शिरोमणि बनकर जो।
नहीं प्रमादी, सत्संकल्पों में महान दृढ, जैनी सो॥

१०

जो अपने प्रतिकूल दूसरोंके प्रति उसे न करता जो।
सर्वलोकका अग्रिम सेवक, प्रिय कहलाता जैनी सो॥

११

पर-उपकृतिमें लीन हुआ भी स्वात्मा नहीं भुलाता जो।
युग-धर्मी 'युग-वीर' प्रवर है, सच्चा धार्मिक जैनी सो॥

होली है !

१

बच्चे व्याहें, बूढ़े व्याहें, कन्याओंकी होली है !
संख्या बढ़ती विधवाओंकी, जिनका राम रखोली है !!
नीति उठी, सत्कर्म उठे, औ' चलती वचन-ब्रलोली है !
दुख-दावानल फैल रहा है, तुमको हँसी-ठठोली है !!

२

नहीं वीरता, नहीं धीरता, नहीं प्रेमकी बोली है !
नहीं संगठन, नहीं एकता, नहीं गुणी-जन-टोली है !!
हृदयोंमें अज्ञान-द्वेषकी बेल विषैली बोली है !
भाई-भाई लड़ें परस्पर, पत अपनी सब खोली है !!

३

बेचें सुता, धर्म-धन खावें, ऐसी नीयत डोली है !
भाव-शून्य किरिया कर समझें, पाप-कालिमा धोली है !!
ऊँच-नीचके भेद-भावसे, लुटिया साम्य डुबोली है !
रूढि-भक्ति औ' हठधर्मीसे, हुआ धर्म बस डोली है !!

४

सत्य नहीं, समुदार-हृदय नहिं, पौरुष-परिणति खोली है !
प्रण-दृढताकी बात नहीं, समताकी गति न टटोली है !!
आर्तनाद कुछ सुन नहिं पड़ता, स्वारथ-चक्की झोली है !
बल-विक्रम सब भगे, बनी हा ! देह सबोंकी पोली है !!

५

उठती नहीं उठाए जाती, यद्यपि बहुती सोली है !
खबर नहीं कुछ देश-दुनीकी, सचमुच ऐसी भोली है !!
बाइस जैनी प्रतिदिन घटते, तो भी आँख न खोली है !
इन हालों तो उन्नति अपनी, ऐ जैनों ! बस होली है !!

होली होली है !!

१

ज्ञान-गुलाल पास नहिं, श्रद्धा-रंग न समता-रोली है !
नहीं प्रेम-पिचकारी करमें, केशर-शान्ति न घोली है !!
स्याद्वादी सुमृदंग बजे नहिं, नहीं मधुर-रस-बोली है !
कैसे पागल बने हो चेतन ! कहते 'होली होली है' !!

२

ध्यान-अग्नि प्रज्वलित हुई नहिं, कर्मेन्धन न जलाया है !
असद्भावका धुआँ उड़ा नहिं, सिद्धस्वरूप न पाया है !!
भीगी नहीं जरा भी देखो, स्वानुभूतिकी चोली है !
पाप-धूलि नहिं उड़ी, कहो फिर कैसे 'होली होली है' !!

: ५ :

संस्कृत-वाग्विलास-खण्ड

वीरजिन - स्तवन

१

मोहादि-जन्य-दोषान्यः सर्वाञ्जित्वा जिनेश्वरः ।
वीतरागश्च सर्वज्ञो जातः शास्ता नमामि तम् ॥

(मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले जो दोष हैं— राग-द्वेष-मोह, काम-क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य-रति-अरति-शोक-भय-ग्लानि, अज्ञान, अदर्शन और अशक्ति आदिके रूपमें आत्माके विकारभाव अथवा वैभाविक परिणमन हैं—उन सबको जीत कर जो जिनेश्वर, वीतराग, सर्वज्ञ और शास्ता हुए हैं उन वीर-जिनको मैं नमस्कार करता हूँ ।)

२

शुद्धि-शक्त्योः परां काष्ठां योऽवाप्य शान्तिमुत्तमाम् ।
देशयामास सद्धर्मं तं वीरं प्रणमाम्यहम् ॥

(जो मोहनीय कर्मका क्षय कर शुद्धिको, ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका अभाव कर ज्ञानशक्ति दर्शनशक्ति तथा वीर्य-शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए हैं । साथ ही उत्तम-अनुपम शान्ति-सुखरूप परिणत हुए हैं और इन सब गुणोंसे सम्पन्न हो कर जिन्होंने समीचीन धर्मकी देशना की है उन श्रीवीरप्रभुको मैं प्रणाम करता हूँ ।)

३-४

यस्य सच्छासनं लोके स्याद्वादाऽमोघ-लाञ्छनम् ।
सर्वभूत-दयोपेतं दम-त्याग-समाधि-भृत् ॥
नय-प्रमाण-संपुष्टं सर्व-बाधा-विवर्जितम् ।
सार्वमन्यैरजय्यं च तं वीरं प्रणिदध्महे ॥

(जिनका समीचीन शासन इस लोकमें स्याद्वादरूप अमोघ लक्षणसे लक्षित है—सर्वथा एकान्तवादरूप न हो कर अनेकान्तवादात्मक है—सर्वप्राणियोंकी दयासे युक्त है, इन्द्रिय-दमन परिग्रह-त्यजन और ध्यान-समाधिकी तत्परताको लिए हुए तथा उनकी शिक्षाओंसे परिपूर्ण है, नयों तथा प्रमाणोंसे भले प्रकार पुष्ट है, सर्वबाधाओंसे विवर्जित है, सबके हितरूप है और अन्य एकान्त-शासनोंके द्वारा अजेय है—कोई उसे जीत नहीं सकता—उन श्रीवीर भगवानके चरणोंमें मैं सिर झुकाता हूँ।)

५

यमाश्रित्य बुधाः श्रेष्ठाः संसारार्णव-पारगाः ।
बभूवुः शुद्ध-सिद्धाश्च तं वीरं सततं भजे ॥

(जिनका आश्रय लेकर श्रेष्ठ बुधजन संसार-समुद्रके पारगामी हुए और शुद्ध-सिद्ध बने उन वीर-जिनेन्द्रको मैं निरन्तर भजता हूँ—सदा उनके भजन-उपासनमें तत्पर रहता हूँ।)

समन्तभद्र-स्तोत्र

१

श्रीवर्द्धमान - वरभक्त - सुकर्मयोगी
सद्बोध-चारुचरिताऽनघवाक्-स्वरूपी ।
स्याद्वाद - तीर्थजल - पूत - समस्त - गात्रः
जीयात्स पूज्य - गुरुदेव - समन्तभद्रः ॥

(जो श्रीवर्द्धमान—भगवान महावीरके श्रेष्ठ भक्त हैं, सच्चे कर्मयोगी हैं, सम्यग्ज्ञान सच्चरित्र तथा निर्दोष-वचन जिनका निज स्वरूप है और जिनका सारा शरीर स्याद्वादरूप-तीर्थजलसे पवित्र है वे पूज्य गुरुदेव स्वामी समन्तभद्र जयवन्त हों—लोक-हृदयोंको अपने व्यक्तित्वसे सदा प्रभावित रखें ।)

२

दैवज्ञ-मान्त्रिक-भिषग्वर-तान्त्रिको यः
सारस्वतं सकल-सिद्धि-गतं च यस्य ।
मान्यः कविर्गमक-वाग्मि-शिरोमणिः स
वादीश्वरो जयति धीर-समन्तभद्रः ॥

(जो दैवज्ञों—ज्योतिर्विदों तथा वैद्योंमें श्रेष्ठ, उत्तम मांन्त्रिक और तांन्त्रिक थे, जिन्हें सारस्वत पूर्णतः सिद्धिको प्राप्त था और जो माननीय कवि, गमकों तथा वाग्मियोंके शिरोमणिः और महावादविजेता वादीश्वर थे वे धीर समन्तभद्र जयवन्त हैं—आज भी अपनी कृतियों-द्वारा लोक-हृदयोंमें अपने प्रभावको अङ्कित किये हुए हैं ।)

३

सर्वज्ञ-शासन-परीक्षण-लब्धकीर्तिर्-
एकान्त-गाढ-तिमिराऽर्दन-तिग्मरश्मिः।
तेजोनिधिः प्रवर-योग-युतो यतिर्यः
सोऽज्ञानमाशु विधुनोतु समन्तभद्रः॥

(सर्वज्ञोंके शासनोंकी परीक्षा करके जिन्होंने यशःकीर्तिको प्राप्त किया है, जो एकान्तरूप गाढ अन्धकारको दूर करनेके लिये सूर्यके समान हैं, तेजकी निधि हैं और उत्कृष्ट योगसे युक्त योगीश्वर हैं वे श्रीसमन्तभद्र शीघ्र ही हमारे अज्ञान-अन्धकारको दूर करें।)

४

आज्ञा-सुसिद्ध-गुणरत्न-महोदधिर्यो
आचार्यवर्य-सुकृती स्ववशी वरेण्यः।
सोऽन्वर्थसंज्ञ इह लोक-हितेऽनुरक्तः
श्रेयस्तनोतु सुखधाम-समन्तभद्रः॥

(जो आज्ञा-सिद्ध हैं—जो आदेश दें अथवा जो वचन मुखसे निकालें वही हो ऐसी सिद्धि को प्राप्त हुए हैं—, गुणरूप रत्नोंके महासमुन्द्र हैं तथा आचार्यवर्य, सुकृती, स्ववशी और महान् हैं वे अन्वर्थसंज्ञक—यथा नाम तथा गुणके धारक सब ओरसे भद्ररूप—सुखकेधाम समन्तभद्र हमारे कल्याणका विस्तार करें।)

५

येन प्रणीतमखिलं जिनशासनं च
काले कलौ प्रकटितं जिनचन्द्र-विम्बम्।
प्राभावि भूपशिवकोटि-शिवायनं वै
स्वामी स पातु यतिराज-समन्तभद्रः॥

(जिन्होंने सम्पूर्ण जिनशासनका प्रणयन—प्रधान नेतृत्व—किया है और इस कलिकालमें चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रके प्रतिबिम्ब-को प्रकटित किया है—अपने मंत्रबलसे बुलाया है—तथा इस अतिशय एवं चमत्कारसे राजा शिवकोटि और उनके भाई शिवायनको प्रभावित किया है वे योगिराज स्वामी समन्तभद्र हमारी रक्षा करें—हमें कुमार्गसे बचावें ।)

६

देवागमादि - कृतयः प्रभवन्ति यस्य
यासां समाश्रयणतः प्रतिबोधमाप्ताः ।
पात्रादिकेसरि - समा बहवो बुधाः स
चेतः पुनातु वचनर्द्धि - समन्तभद्रः ॥

(जिनकी देवागम, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्रादि कृतियाँ बड़ी प्रभावशालिनी हैं, जिनका सम्यक आश्रय लेनेसे पात्रकेसरी जैसे अनेकों विद्वान प्रतिबोधको प्राप्त हुए हैं वे वचन-ऋद्धिको प्राप्त समन्तभद्र हमारे चित्तको पवित्र करें—उनकी कृतियोंके समाश्रयणसे हमारा मन शुद्ध और साफ होवे ।)

७

यद्भारती सकल-सौख्य-विधायिनी हि
तत्त्व-प्ररूपण-परा नय-शालिनी वा ।
युक्त्याऽऽगमेन च सदाऽप्यविरोधरूपा
सद्वर्त्म दर्शयतु शास्तृ-समन्तभद्रः ॥

(जिनकी वाणी पूर्णसुखकी प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाली, तत्त्वोंके प्ररूपणमें तत्पर, नयोंकी विवक्षासे विभूषित और युक्ति तथा आगमनके साथ सदा अविरोध रूप है—दोनोंमेंसे किसीके भी विरुद्ध प्रवृत्त नहीं होती—वे शास्ता समन्तभद्र हमें सन्मार्ग दिखलाएँ—उनकी निर्दोष वाणीके प्रसादसे हमें अपने कल्याण-मार्गका ठीक ठीक दर्शन होवे ।)

८

यस्य प्रभाव - वशतः प्रतिभा-परस्य
मूकंगताः सुनिपुणाः प्रतिवादिनोऽपि ।
वाचाट-घूर्जटि-समाः शरणं प्रयाताः
प्राभाविको जयतु नेतृ-समन्तभद्रः ॥

(जिन प्रतिभाशालीके प्रभाव-वश हो कर महावाचाल धूर्जटि-जैसे सुनिपुण-प्रतिवादी भी मूक हो गये—उन्हें कुछ बोल नहीं आया—और साथ ही शरणागत हुए वे प्रभावशाली नेता समन्तभद्र जयवन्त हों—लोक-हृदयोंको अपने प्रभावसे सदा प्रभावित रखें ।)

९

श्रीवीर - शासन - वितान - धिया स्वतंत्रो
देशान्तराणि विजहार पदर्द्धिको यः ।
तीर्थं सहस्रगुणितं प्रभुणा तु येन
पूयात्स भावि-जिनराज-समन्तभद्र ॥

(जो पदर्द्धिक—चारण ऋद्धिके धारक—थे, जिन्होंने श्रीवीर भगवानके शासनका विस्तार करनेकी बुद्धिसे स्वतंत्र-रूपसे देशान्तरोंका विहार किया है और फलतः जिन प्रभुके द्वारा उक्त शासन-तीर्थ सहस्रगुणी वृद्धिको प्राप्त हुआ है वे भावी जिन-राज-तीर्थंकर हमारे हृदयोंमें निवास कर हमें पवित्र करें।)

१०

यद्ध्यानतः स्फुरति शक्तिरनंकरूपा
निघ्ना प्रयान्ति विलयं शुफलान्ति कामा
मोहं त्यजन्ति मनुजा स्वहितेऽनुरक्ता
भद्रं प्रयच्छतु मुनीन्द्र - समन्तभद्र

(जिनके ध्यानसे शक्ति अनेकरूपमें स्फुरित–विकसित होती है, विघ्न विनाशको प्राप्त होते हैं, कामनाएँ सुफल होती हैं और स्वात्म-हितमें अनुरक्त मानव मोहका त्याग करते हैं वे मुनीन्द्र समन्तभद्र हमें मंगल प्रदान करें—उनके ध्यानसे शक्ति-विकासादिके रूपमें हमारा कल्याण होवे।)

११

यद्भक्तिभाव - निरता मुनयोऽकलंक-
विद्यादिनन्द - जिनसेन - सुवादिराजा ।
गायन्ति दिव्य-वचनै सुयशांसि यस्य
भूयाच्छ्रियै स युगवीर - समन्तभद्र. ॥

(जिनकी भक्तिमें लीन हुए अकलंकदेव विद्यानन्दस्वामी भगवज्जिनसेन और प्रमुख वादिराज जैसे महामुनि तक अपने दिव्यवचनों-द्वारा जिनके सुयशोंका गान करते हैं वे युगवीर—इस युगके प्रधानपुरुष अथवा वीरभगवान—श्रीसमन्तभद्र हमारी श्री[1]-वृद्धिके लिये निमित्तभूत होवें—उनके प्रसादसे अथवा प्रसन्नतापूर्वक आराधनसे हमें निजश्रीकी—आत्मीय लक्ष्मी-ज्योति, शोभा-प्रभा, सम्पत्ति-विभूति, शक्ति-सरस्वती और सिद्धि-समृद्धि-की अधिकाधिक प्राप्ति होवे।)

---

१ 'श्री' शब्द उन सभी अर्थोंमे प्रयुक्त होता है जिन्हे 'निजश्री'की व्याख्यामे आगे व्यक्त किया गया है और जो यहाँ विवक्षित है।

अमृतचन्द्रसूरि-स्तुति

१

आगम-हृदय-ग्राही मर्म-ग्राही च विश्व-तत्त्वानाम् ।
यो मद-मोह-विमुक्तो नय-कुशलो जयति स सुधेन्दुः ॥

(जो आगमोंके रहस्य-वेत्ता हैं—अर्हत्प्रवचनके सारभूत प्रवचनसार, समयसार और पचास्तिकाय आदि सिद्धान्त ग्रन्थों-के अन्तस्तत्त्वके ज्ञाता हैं—विश्व-तत्त्वोंके मर्मज्ञ हैं, मद-मोहसे रहित हैं और नयोंमे कुशल हैं—निश्चय-व्यवहारादि नयोंके परिज्ञान तथा प्रयोगमें निपुण हैं—वे श्री अमृतचन्द्रसूरि जयवन्त हैं—अध्यात्म-रसिक विद्वानोंके हृदयों पर अपने आगम-ज्ञानादिका सिक्का जमाए हुए हैं।)

२

यद्वचनाऽमृत-वर्षैर्जडताऽऽतप-शातनादुपागच्छति ।
शान्तिः सर्वजनानां सोऽमृतचन्द्रो मुनिर्वन्द्यः ॥

(जिनके वचनरूप अमृतकी वर्षासे जडता—अज्ञानतारूप आताप शान्त हो जाता है और उसके शान्त होनेसे सब जनोंको शान्तिकी प्राप्ति होती है वे मुनिश्री अमृतचन्द्राचार्य सभी शान्तिके इच्छुकों-द्वारा वन्दनीय हैं।)

मदीया द्रव्यपूजा

१

नीरं कच्छप-मीन-भेक-कलितं, तज्जन्म-मृत्याकुलम्
वत्सोच्छिष्टमिदं पयश्च, कुसुमं घ्रातं सदा षट्पदैः ।
मिष्टान्नं च फलं च नाऽत्र घटितं यन्मक्षिकाऽस्पर्शितम्
तत्किं देव ! समर्पयेऽहमिति मच्चित्तं तु दोलायते ॥

२

एतन्मे हृदि वर्तते प्रभुवर ! क्षुत्तृड्विनाशाच्च ते
नार्थः कोऽपि हि विद्यते रसयुतैरन्नादिभी रोचनैः ।
नो वांछा न विनोदभाव-जननं नष्टश्च रागोऽखिलः
एवं त्वर्पण-मोघता गतगदे सद्भेषजाऽऽनर्थ्यवत् ॥

३

निःसारं प्रतिबुद्ध्य रत्ननिवहं, नानाविधं भूषणम्
हृद्यं कान्ति - समन्वितं च वसनं सर्वं त्वया श्रीपते !
संत्यक्तं प्रमुदा विरागमतिना तत्तत् त्वदग्रेऽधुना
यद्याऽऽराध्य ! समर्पयामि भगवन् सा धृष्टता मेऽखिला ॥

४

तस्मान्न्यस्त-शिरोऽग्र-हस्तयुगलो भूत्वा विनम्रस्त्वहम्
भक्त्या त्वां प्रणमामि नाथमसकृल्लोकैक-दीपं परम् ।
शक्त्या स्तोत्रपरो भवामि च मुदा दत्तावधान प्रभो !
द्रव्याऽर्चा मम चेयमेव विमला मोहारि-संहारये ॥

(इस 'मदीया द्रव्यपूजा' के अर्थ तथा आशयके लिये उपासना-खण्डमें 'मेरी द्रव्यपूजा' अवलोकनीय है ।)

जैन आदर्श

(जैनगुण-दर्पण)

१

कर्मेन्द्रिय-जयी जैनो जैनो लोकहिते रत ।
जिनस्योपासको जैनो हेयाऽऽदेय-विवेक-युक् ॥

२

अनेकान्ती भवेज्जैन स्याद्वादन - कलान्वित ।
विरोधाऽनिष्ट-विध्वंसे समर्थ समता-युत ॥

३

दया-दान-परो जैनो जैन सत्य-परायण ।
सुशीलोऽवंचको जैन शान्ति-सन्तोष-धारक ॥

४

परिग्रहेष्वनासक्तो नेर्षालुर्नैव द्रोहवान् ।
न्याय-मार्गाऽच्युतो जैन समश्च सुख-दु खयो ॥

५

जिल्लोभो निर्भयो जैनो जैनोऽहंकार-दूरग ।
सेवाभावी गुण-ग्राही नि शल्यो विषयोज्झित ॥

६

राग-द्वेषाऽवशी जैनो जैनो मोहपाराङ्मुख ।
स्वात्म-ध्यानोन्मुखो जैनो, जैनो रोष-विवर्जित ॥

७

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तात्मा जैनो नीति-विधायक ।
मनोवाक्काय-व्यापारेष्वेको जैनो मुमुक्षुक ॥

८

आत्मज्ञानी प्रसन्नात्मा सद्ध्यानी गुण-पूजक ।
अनाग्रही शुचिर्जैन संक्लेश-रहिताऽऽशय ॥

९

नाऽऽत्मन प्रतिकूलानि परेषु विदधाति य ।
स जैन सर्वलोकानां सेवकाऽग्र· प्रियो मत· ॥

१०

परोपकृति-संलग्नो न स्वात्मानमुपेक्षते ।
युगधर्म-धरो वीरो धार्मिको जैन उच्यते ॥

(इस 'जैन आदर्श' के अर्थ तथा आशयके लिये सत्प्रेरणा-खण्डमे 'जैनी कौन ?' नामकी कविता अवलोकनीय है ।)

अनेकान्त-जयघोष

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तक सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्त ॥

(जो नीतियों—नयोंके विरोधको ध्वस्त एवं नष्ट करनेवाला है, लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—जिसके बिना लोकका कोई भी व्यवहार ठीक नहीं बनता—और परमागमका बीजरूप है वह लोकका अद्वितीय गुरु 'अनेकान्त' जयवन्त है—सर्वथा एकान्तवादों पर विजय प्राप्त किये हुए है ।)

स्तुतिविद्या-प्रशंसा

स्तुतिविद्या-प्रसादेन श्रेय किं नाऽभिजायते ।
श्रीमत्समन्तभद्रेण विहिता याऽऽगसां जये ॥

(ऐसा कौनसा कल्याणकार्य है जो 'स्तुतिविद्या' के प्रसादसे —प्रसन्नतापूर्वक अध्ययन-आराधनसे—प्राप्त न हो सके, जिसे श्रीमान् स्वामी समन्तभद्रने पापोंको जीतनेके लिये रचा है— दुष्कृतोंको जीतना ही जिसका प्रधान लक्ष्य है ।)

सार्थक जीवन

सद्विवेकवती बुद्धिर्लोक - सेवाऽनुरंजिनी ।
श्रीश्च दानवती यस्य सार्थकं तस्य जीवनम् ॥

(जिसकी बुद्धि प्रशस्त विवेकको धारण किये हुए है तथा लोक-सेवामें अनुरक्त रहनेवाली है और जिसकी लक्ष्मी दान-शीला है उसका जीवन सार्थक एव सफल है ।)

लोकमें सुखी

परिग्रहं ग्रहं मत्वा नाऽत्यासक्तिं करोति य ।
त्यागेन शुद्धि-सम्पन्न सन्तोषी भुवने सुखी ॥

(जो परिग्रहको ग्राह समझकर उसमे अति आसक्त नही होता– अधिक अनुरक्ति तथा लालसा नहीं रखता—और उसके त्याग-द्वारा—दानादिरूपमे अथवा ममत्वके परिहाररूपमें उसे अपनेसे पृथक् करके—आत्म-शुद्धिको प्राप्त करता है वह सन्तोषी प्राणी लोकमें सुखी होता हैं ।)

वेश्यानृत्य - स्तोत्र

(स्तुति-निन्दात्मक)

वेश्यानृत्य ! नमस्तुभ्यं
स्वार्थ-चिन्ता-विघातिने ।
लज्जां पापादि-भीतीश्च
हित्वा स्वातंत्र्य-दायिने ॥

(हे वेश्यानृत्य ! तुझे नमस्कार हो ! लम्बी जुहार हो !! तू स्वार्थ-चिन्ताका विघातक है—तेरे भक्तोंकी स्वार्थ-चिन्ता यहां तक मिट जाती है कि उन्हें कमाने-खाने, पढ़ने-लिखने तथा घर-गृहस्थी तककी फिकर नहीं रहती; फिर स्वार्थ-साधनाकी तो बात ही दूर है । चिन्ता दुःखोंका मूल है अथवा दुखरूप है, जब वही रहने नहीं पाती तब तो मुक्तिका प्रमाणपत्र मिला ही समझिए ! चाहे वह मुक्ति हो अपने कुटुम्ब-परिवारसे, कार्य-व्यवहारसे, धन-धान्यसे, धर्माचरणसे, इज्जत-आबरूसे, शरीर-मनसे और या जीवनोपायकी साधनासे ! गरज है मुक्ति ! और वह मुक्ति तेरे दर्शनोंसे सहज-साध्य हो जाती है ! इसीलिए हम तेरे आगे ढाई हाथ जोडते हैं !!

इसके सिवाय, तू लज्जाको तथा पापादिके भयोंको दूर करके स्वतंत्रता प्रदान करनेवाला है—लज्जाका बडा बन्धन है, सैकडों अच्छे-बुरे काम इसकी वजहसे रुके रहते हैं, गृहस्थोंको परम दिगम्बर मुनिमुद्रा धारण करनेसे भी यह बाधक होती है । तेरे

अखाडेमे लज्जाका नाम नहीं और न शरमका कुछ काम होता है; बातकी बातमे तेरे भक्तजनोंका यह बन्धन टूट जाता है। इसी तरह पापादिके भयोंका भी बडा भारी बन्धन है। जिन हिंसादि महापापोंसे अच्छे अच्छे सन्त-महात्मा और योगीजन डरते तथा घबराते हैं—उनके पासतक फटकना नहीं चाहते—उनसे तेरे भक्त जरा भी भय नहीं खाते! तेरे प्रतापसे उनका यह बन्धन भी सहज ही टूट जाता है और वे वेश्या महादेवीकी आराधनाके लिए सब कुछ पापाचार करनेको तैयार हो जाते हैं॥ उन्हें गुरुजनोंका, पंच-पचायतका और राजाका भी फिर कोई भय नहीं रहता॥ जब लज्जा और पापादि-भयोंके बन्धन ही तेरी बदौलत टूट जाते हैं तब तू स्वतत्रता प्रदान करनेवाला है, इसमें सन्देह ही क्या है। भले ही तेरे कारण मनुष्य घरका या घाटका न रहे। परन्तु स्वतत्र जरूर हो जाता है॥ स्वतत्रता ससारमे बडी ही स्पृहणीय वस्तु बनी हुई है। सारा ससार उसके पीछे मारा-मारा फिरता है और हरएक यही चाहता है कि मुझे स्वतत्रता मिले—आजादीकी प्राप्ति होवे। चूॅकि तेरी कृपासे ऐसी स्वतत्रताकी प्राप्ति होती है जिससे लाज और शरम सब रफू-चक्कर अथवा हवा हो जाती है और पापादिके भय डराने नहीं पाते, इससे भी हम तेरे आगे ढाई हाथ जोडते हैं। तू दूरसे ही हमारे ऊपर अपनी कृपा दृष्टि बनाए रखना॥ हमे अपने दुर्गति-मूलक जालमें न फॅसाना॥॥)

: ६ :

प्रकीर्ण-पुष्पोद्यान-खण्ड

महावीर-जिनदीक्षा

पीडित-पतित-मार्गच्युत जगको, लख श्रीवीर महान,
उद्यत हुए लोक-सेवाको, करने सर्वोत्थान।
राज्य तजा, सुख-सम्पत् त्यागी, छोड़ा सब सामान,
जिन-दीक्षा ली, इसी हेतुसे, किया स्व-पर-कल्याण ॥

ईश्वर और संसार

१

सर्व - शक्ति - प्रज्ञा - दया, ईश्वरमें जो होय।
तो फिर इस संसारमें, दुखी न दीखे कोय ॥

२

यदि ईश्वर है सर्वगत, व्यापक गगन-समान।
क्रिया-करण असमर्थ तब, जगकर्ता किम् जान ॥

३

चिदानन्दमें मग्न जो, ईश्वर शान्ति-निधान।
क्यों झंझट संसारकी, ले सिर बन अज्ञान ?

पठन क्योंकर हो ?

प्रथम तो 'पठनं पठिनं' प्रभो !
सुलभ पाठक-पुस्तक जो न हो।
हृदय चिन्तित, देह सरोग हो,
पठन क्योंकर हो, तुम ही कहो ?

वह क्यों न निराश हो ?

प्रबल धैर्य नहीं जिस-पास हो,
हृदयमें न विवेक-निवास हो।
न श्रम हो, नहिं शक्ति-विकाश हो,
जगतमें वह क्यों न निराश हो ?

विधिका प्राबल्य और दौर्बल्य

१

जीवनकी औ' धनकी आशा जिनके सदा लगी रहती।
विधिका विधान सारा उनहीके अर्थ होता है॥

२

विधि क्या कर सकता है ? उनका, जिनकी निराशता आशा।
भय-काम-वश न होकर, जगमें स्वाधीन रहते जो॥

अटल आत्म-विश्वास

सत्य-समान कठोर, न्याय-सम पक्ष-विहीन,
हूँगा मैं परिहास - रहित कूटोक्ति - क्षीण।
नहीं करूँगा क्षमा, इंच भर नहीं टलूँगा
तो भी हूँगा मान्य, ग्राह्य, श्रद्धेय बनूँगा॥

सुखका सच्चा उपाय

१

जगके पदार्थ सारे, वर्तें इच्छानुकूल जो तेरी।
तो तुझको सुख होवे, पर ऐसा हो नहीं सकता॥

२

क्योंकि परिणमन उनका शाश्वत उनके अधीन ही रहता।
जो निज-अधीन चाहै वह व्याकुल व्यर्थ होता है॥

३

इससे उपाय सुखका सच्चा 'स्वाधीन-वृत्ति है अपनी–
राग - द्वेष - विहीना', क्षणमें सब दुःख हरती जो॥

धर्म-वीरोंको आह्वान

१

कमर कसलो धर्मवीरो ! उठालो सत्यका झंडा ।
जगत-उद्धार करनेको, बजादो धर्मका डंका ॥

२

नहीं है तर्का-मौरुसी[1], किसीका जैनमत प्यारो !
सुनाकर सबको जिनवाणी, मिटादो उनकी सब शंका ॥

३

जगत मिथ्यात्व-सागरमें, ये देखो ! खा रहा गोते !
करो उद्धार अब जल्दी, लगा सम्यक्त्वकी नैय्या ॥

४

जगतमें पाप है फैला, हुआ विस्तार हिंसाका ।
दया-धर्मी ! दया कर खोलदो मारग अहिंसाका ॥

५

तजो अन्याय-खुदगर्जी[2] बनो समुदारचित भविजन ।
निजी कर्तव्य उर लाकर, करो उपकार सब जगका ॥

६

तुम्हारे धर्मपर मोहित, तुम्हारे तत्त्वके कायल[3] ।
तुम्हारी जो शरण आवें, करो सन्मान तुम उनका ॥

७

'जुगल' सोओ न गफलतमें, उठो जागो कमर बाँधो ।
अविद्या दूर कर सारी, करो संचार सन्मतिका ॥

---

१ पैतृक सम्पत्ति । २ दूसरोके हितकी अवहेलना कर लौकिक स्वार्थ साधना । ३ माननेको विवश ।

हृदय और फुटबाल

(आत्म-गीत)

हृदय है बना हुआ फुटबाल !
विविध विचारोंकी ठोकर खा, होता है बे-हाल !
कभी लुढ़कता इधर-उधर तो लेता कभी उछाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !
जाति-भेदके गड्ढेमें पड़, भूल गया सब चाल !
मानवताकी सुन पुकार भी, कर देता है टाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !
सांसारीक-प्रपंच-जालमें फँसा हुआ हर हाल !
नहीं निकलनेकी सुधि करता, ऐसा हुआ निढाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !
कभी विषय-सम्पर्क सोच कर, होता है खुशहाल !
कभी प्राप्त सुन्दर विषयोंको भी लखता निज-काल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !
प्रेम-मग्न संचित द्रव्योंकी करता कभी सम्हाल !
उदासीन हो कभी समझता उनको जान-वबाल !!

हृदय है बना हुआ फुटबाल !

कभी धनिक बननेकी इच्छा, कभी रुचिर-कङ्काल !
ध्यान-मग्न हो गिरि-गह्वरमें बसनेका बस ख़्याल !!

हृदय है बना हुआ फुटबाल !

देश-सेवकोंकी गाथा सुन, लख वीरोंकी चाल !
उनही जैसा हो रहनेको, उमड़त है तत्काल !!

हृदय है बना हुआ फुटबाल !

कभी सोचता—'सबसे पहले अपने दोष निकाल !
तभी बनेगी सच्ची सेवा, होगा देश निहाल' !!

हृदय है बना हुआ फुटबाल !

कभी आपसे बातें करता, फँस उत्प्रेक्षा-जाल !
कभी हवाई किले बनाता, शेखचिलीकी ढाल !!

हृदय है बना हुआ फुटबाल !

कभी खूब डरता-घबराता, आता लख निज-काल !
काम अधूरे लख कर अपने, पड़ता चिन्ता-जाल !!

हृदय है बना हुआ फुटबाल !

इष्टवियोग—अनिष्टयोगकी, चिन्ता उधर कराल !
फिकर-फिकरमें मुरझाया तन, सुकड़ गई सब खाल !!

हृदय है बना हुआ फुटबाल !

पर-चिन्तामें पड़ कर अपना भूल गया सब हाल !
मकड़ी जाला-सा तन-तन कर, फँसा जगत-जंबाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !
अपनी भूल-मोहपरिणतिसे, सहता दुख विकराल !
राग-द्वेषके वशीभूत हो, होता है पामाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !
हो करके 'युगवीर' भटकता फिरता क्यों बेहाल !
जीवन शेष रहा है कितना ! अपनी सुरत सँभाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !
बहुत किया अन्वेषण परका, लिखे अनेकों हाल !
अब निजरूप सँभाल खोज कर, छोड़ सकल जंजाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !
विपुलाचल चल, वीर-ज्योति लख, शान्ति-प्रद सुविशाल !
अपनी ज्योति जगाले, उसके चरणोंमें रख भाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !
यों निज-आत्म-विकास सिद्ध कर, करले प्राप्त कमाल !
भ्रम-बाधा-चिन्तासे हट कर, होजा चित्त ! निहाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल !

४

सृष्टि वनस्पति अमित-रूपिणी, क्या क्या रूप लखूँ !
गुण-स्वभाव-परिणाम अनन्ते, किसको लक्ष्य करूँ !! मैं०

५

भू-जल-पवन-ज्वलन नाना-विध, क्या क्या गुण परखूँ !
शक्ति-विकृतियाँ बहु बहुविध सब, किसको लक्ष्य करूँ !!०

६

देवाऽऽकृतियाँ विविध बनी हैं, किस पर ध्यान धरूँ !
गुण-महिमा-कीर्तन असंख्य हैं, किसको लक्ष्य करूँ !! मैं०

७

नारकि-शक्लें विविध भयंकर, किसको चित्त धरूँ !
सदा अशुभ-लेश्यादि-विक्रिया, क्यों सम्पर्क करूँ !! मैं०

८

पुद्गलके परिणामन अनन्ते, किससे प्रेम करूँ !
किसको अपना सगा बनाऊँ, किससे क्यों विरचूँ !! मैं०

९

इन्द्रिय-विषयोंका न पार है, कैसे तृप्ति करूँ !
किस-किसमें कब तक उलझूं मैं, जीवन स्वल्प धरूँ !! मैं०

१०

भाषा-लिपियाँ विविध अनूठी, किसको मान्य करूँ !
किस-किसके अभ्यास-मननमें, जीवन शेष करूँ !! मैं०

११

पर-अध्ययन अपार सिन्धु है, कैसे पार परूँ !
निज-स्वरूपमें जो न सहायक, उसमें क्यों विचरूँ !! मैं०

१२

मेरा रूप एक अविनाशी, चिन्मय-मूर्ति धरूँ ।
उसको साधे सब सध जावें, क्यों अन्यत्र भ्रमूँ !! मैं०

१३

सब विकल्प तज निजको ध्याऊँ, निजमें रमण करूँ ।
निजानन्द-पीयूष पान कर, सब विष वमन करूँ ।। मैं०

१४

परके पीछे निजको भूला, कैसे धैर्य धरूँ !
बन कर अब 'युगवीर' हृदयसे, दूर विभाव करूँ ।।

मैं किस-किसका अध्ययन करूँ !
पर-अध्ययन छोड़ शुभतर है, निजका ही अध्ययन करूँ ।।

परिशिष्ट

कविताऽनुक्रमणी